सैयदवाद: मुस्लिम समाज में वंशीय पदानुक्रम, कुफ़ू का विधान और पसमांदा यथार्थ

अब्दुल्लाह मंसूर

प्रस्तावना:

भारतीय समाज के सामाजिक और वैचारिक विमर्श में जब 'ब्राह्मणवाद' शब्द की समाजशास्त्रीय समीक्षा और विश्लेषण किया जाता है, तो इसका अर्थ किसी व्यक्ति-विशेष अथवा जाति-विशेष के प्रति व्यक्तिगत पूर्वाग्रह, द्वेष या घृणा नहीं होता। समाजशास्त्र की दृष्टि में यह एक सुव्यवस्थित, संस्थागत और यथास्थितिवादी व्यवस्था (अर्थात् पुरानी सामाजिक व्यवस्था और ऊँच-नीच को ज्यों-का-त्यों बनाए रखने वाली संरचना) को इंगित करता है। यह एक ऐसी सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था है, जो जन्म के आधार पर शक्ति, विशेषाधिकार, आध्यात्मिक एकाधिकार और सामाजिक प्रतिष्ठा को केवल एक कुलीन (उच्च) वर्ग के हाथों में सुरक्षित रखती है।

इस व्यवस्था के अंतर्गत यह स्थापित किया जाता है कि एक विशिष्ट वर्ग जन्म से ही सर्वोच्च, जन्मजात पवित्र और ज्ञान का स्वाभाविक संरक्षक व अधिकारी है, जबकि समाज के अन्य सभी वर्ग उसकी सेवा और आज्ञाकारिता के लिए ही बने हैं। इस जन्मजात पदानुक्रम (श्रेणीबद्ध ऊँच-नीच) को बनाए रखने के लिए धार्मिक ग्रंथों, मान्यताओं और दैवीय विधानों का सहारा लिया गया, जिससे सामान्य जन इसे किसी मानवीय शोषण अथवा सामाजिक अन्याय के बजाय ईश्वरीय व्यवस्था मानकर सहजता से स्वीकार कर लें। ठीक इसी सामाजिक-धार्मिक संरचना के समानांतर, जब हम भारतीय उपमहाद्वीप (भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश) के मुस्लिम समाज का गहराई से वस्तुनिष्ठ अध्ययन करते हैं, तो वहाँ हमें 'सैयदवाद' की एक अत्यंत संगठित, शक्तिशाली और प्रभावी व्यवस्था सक्रिय दिखाई देती है।

पाठकों के लिए यह समझना आवश्यक है कि जिस प्रकार हिंदू सामाजिक व्यवस्था में जातिगत पदानुक्रम के शीर्ष पर ब्राह्मण वर्ण को स्थापित किया गया, ठीक उसी प्रकार भारतीय मुस्लिम समाज में 'सैयद' जाति को जन्मजात रूप से सर्वोच्च और पूजनीय स्थान पर बैठाया गया है। सैयदवाद मूलतः मुस्लिम समाज के भीतर अशराफ़ (कथित उच्च, कुलीन या मध्य-एशियाई/अरबी विदेशी मूल का दावा करने वाले मुस्लिम वर्ग) द्वारा गढ़ी गई एक ऐसी वर्चस्ववादी विचारधारा है, जिसका मुख्य उद्देश्य समाज में अपनी सर्वोच्च स्थिति, आर्थिक लाभ और धार्मिक-राजनीतिक सत्ता को पीढ़ी-दर-पीढ़ी अक्षुण्ण बनाए रखना है।

इस व्यवस्था के केंद्र में यह दावा स्थापित किया गया है कि 'सैयद' जाति का संबंध सीधे इस्लाम के अंतिम पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम - उन पर ईश्वर की शांति व कृपा हो) के पवित्र वंश से है, और इसी कारण वे जन्मजात रूप से अलौकिक गुणों, स्वाभाविक पवित्रता तथा आध्यात्मिक श्रेष्ठता के स्वामी हैं। 'सांस्कृतिक आधिपत्य' *(Hegemony)* सिद्धांत के अनुसार, जब कोई प्रभुत्वशाली वर्ग अपनी मान्यताओं को पूरे समाज पर इस तरह थोप देता है कि शोषित वर्ग उसे ही स्वाभाविक सच मान ले, तो शोषण अदृश्य हो जाता है। ठीक इसी प्रकार मुस्लिम समाज में भी 'सैयदवाद' को एक अघोषित और पवित्र 'अक़ीदा' (अर्थात् अटूट धार्मिक आस्था, विश्वास और ईमान का अनिवार्य हिस्सा) बना दिया गया। इसके परिणामस्वरूप, सदियों तक इस व्यवस्था के विरुद्ध कोई संगठित प्रश्न खड़ा नहीं हो सका, क्योंकि इस व्यवस्था और सैयदों की श्रेष्ठता पर किसी भी प्रकार का तार्किक सवाल उठाना सीधे 'इस्लाम धर्म पर सवाल उठाने' अथवा 'ईश-निंदा' (धर्म की अवहेलना) के समतुल्य मान लिया गया।

अशराफ़ वर्ग अपने सामाजिक और आर्थिक फायदे के लिए सीधे-सादे, कम पढ़े-लिखे पसमांदा लोगों को बार-बार यह सिखाते हैं कि सैयद सबसे ऊँचे हैं और पसमांदा नीचे हैं। वे समाज में यह प्रचारित करते हैं कि सैयदों की सेवा (ख़िदमत) करना और उन्हें खुश रखना पसमांदा मुसलमानों का धार्मिक कर्तव्य (फ़र्ज़) है। इससे जो आदर और सर्वोच्च सम्मान केवल ईश्वर (अल्लाह) के लिए होना चाहिए, वैसी भक्ति और सम्मान सैयदों के लिए करने की सामाजिक व मानसिक मजबूरी बना दी जाती है। हालाँकि इस्लाम के मूल सिद्धांतों में सारे मुसलमान समान और बराबर हैं, फिर भी पसमांदा समाज सैयदों की गुलामी और सेवा में लगा दिया जाता है। यह कोई साधारण बात नहीं, बल्कि एक गहरा सामाजिक व धार्मिक अन्याय (ज़ुल्म) है। इस निरंतर थोपी गई सोच की वजह से पसमांदा धीरे-धीरे खुद को हीन और वही समझने लगते हैं, जैसा सैयदवादी व्यवस्था उन्हें बताती है। यह सैयदवादी मानसिकता का ही दुष्प्रभाव है, जो पूरे समाज में गैर-बराबरी और नाइंसाफी को निरंतर बढ़ाता है।.

अब्दुल्लाह मंसूर शिक्षक, लेखक और बुद्धिजीवी हैं। पसमांदा डेमोक्रेसी यूट्यूब चैनल के संचालक हैं और मुस्लिम समाज में जाति व सामाजिक न्याय से जुड़े पसमांदा दृष्टिकोण पर निरंतर लिखते-बोलते हैं।

इस्लाम का मूल समतावादी सिद्धांत बनाम ऐतिहासिक विचलन:

सैद्धांतिक धरातल पर यदि इस्लाम के मूल धर्मशास्त्र का निष्पक्ष और प्रामाणिक अध्ययन किया जाए, तो वह जन्म-आधारित श्रेष्ठता, वंशगत अहंकार और वर्ग-विभाजन के बिल्कुल विपरीत खड़ा दिखाई देता है। इस्लाम का संपूर्ण वैचारिक आधार *'तौहीद'* (ईश्वर के एक होने का सिद्धांत यानी विशुद्ध एकेश्वरवाद) पर टिका है। तौहीद का अनिवार्य सामाजिक निष्कर्ष *'मसावात'* (अर्थात् संपूर्ण मानवीय समानता, बंधुत्व, न्याय और सामाजिक बराबरी) है। तौहीद की मूल अवधारणा मनुष्य और ईश्वर के बीच किसी भी प्रकार के मध्यस्थ, पुरोहित वर्ग, या जन्मजात विशेषाधिकार प्राप्त समूह के अस्तित्व को सिरे से नकारती है।

इस्लाम के प्राथमिक और सर्वोच्च धर्मग्रंथ पवित्र क़ुरआन मजीद में मनुष्य की सामाजिक प्रतिष्ठा अथवा ईश्वरीय निकटता का पैमाना किसी का वंश, कुल, रक्त की शुद्धता, धन-दौलत अथवा जाति नहीं, बल्कि केवल उसका व्यक्तिगत सदाचार और *'तक़वा'* (अर्थात् ईश्वर-भीरुता, संयम, आत्म-नियंत्रण और उच्च नैतिक आचरण) निर्धारित किया गया है। क़ुरआन मजीद की सूरह अल-हुजुरात में अत्यंत स्पष्ट और सशक्त शब्दों में यह सार्वभौमिक घोषणा की गई है:

> *"हे मानवजाति! वास्तव में हमने तुम्हें एक पुरुष और एक स्त्री (आदम और हव्वा) से उत्पन्न किया है और तुम्हें विभिन्न जातियों, शाखाओं और क़बीलों (वंश समूहों) में इसलिए बाँट दिया ताकि तुम परस्पर एक-दूसरे की पहचान कर सको। निस्संदेह, अल्लाह (ईश्वर) के निकट तुममें सबसे अधिक प्रतिष्ठित और सम्मानित वही व्यक्ति है, जो तुममें सबसे अधिक सदाचारी (तक़वा वाला) है।"*
>
> **— *(क़ुरआन मजीद, सूरह अल-हुजुरात 49:13) [1]***

इसी मूल समतावादी सिद्धांत को इस्लाम के पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) ने अपने जीवन के अंतिम ऐतिहासिक धर्मोपदेश (ख़ुतबा हज्जतुल विदा) में स्पष्ट शब्दों में समाज के समक्ष दोहराया था। उन्होंने जन्म, नस्ल, रंग और क्षेत्र के आधार पर किए जाने वाले प्रत्येक अहंकार को सार्वजनिक रूप से ध्वस्त करते हुए कहा था:

> *"हे लोगो! स्मरण रखो कि तुम्हारा ईश्वर एक है और तुम्हारा पूर्वज भी एक है। किसी अरबी को किसी ग़ैर-अरबी (अजमी) पर कोई श्रेष्ठता प्राप्त नहीं है, और न ही किसी ग़ैर-अरबी को किसी अरबी पर कोई बड़प्पन है। इसी प्रकार किसी गोरे को किसी काले पर और किसी काले को किसी गोरे पर कोई प्रधानता हासिल नहीं है, सिवाय तक़वा (सदाचार, पवित्रता एवं ईश्वर-परायणता) के।"*
>
> **— *(मुसनद अहमद, हदीस संख्या: 23489) [2]***

अल्लाह रब्बुल आलमीन (सृष्टि के पालनहार ईश्वर) के दरबार में श्रेष्ठता, महानता और बुज़ुर्गी का एकमात्र पैमाना केवल 'तक़वा' और नेक (सदाचारी) आचरण है, कोई ख़ास ख़ानदान, कुल या जाति नहीं। कुछ स्वार्थी तत्वों ने *'आल-ए-मुहम्मद'* (पैगंबर का परिवार) का अर्थ केवल पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (*सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम*) की नस्लीय संतान बताकर अपने व्यक्तिगत वर्चस्व का महल खड़ा किया, जो पूरी तरह गैर-इस्लामी है। पवित्र क़ुरआन मजीद के अनुसार 'आल' से वास्तविक आशय पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) के लाए हुए सत्य धर्म पर चलने वाले सभी निष्ठावान, ईमानदार और आज्ञाकारी अनुयायी (उम्मती) हैं। सैयदवाद ने आध्यात्मिक शिक्षाओं की आड़ में जन्म-आधारित ऊँच-नीच का गंभीर विकार फैलाया है। पसमांदा समाज का बौद्धिक जागरण इसी में है कि वह इस नस्ल-परस्ती और वंशीय श्रेष्ठता को खारिज कर ईश्वर की धरती पर 'मसावात' (समानता) की पुनर्स्थापना करे।

किंतु इस्लामी इतिहास का सबसे त्रासद, दुर्भाग्यपूर्ण और विरोधाभासी पहलू यह रहा कि पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) के पर्दा फरमाने (देहांत) के बाद के कालखंड में, विशेष रूप से राजनीतिक सत्ता, खिलाफत (मुस्लिम जगत का केंद्रीय राजनीतिक एवं प्रशासनिक नेतृत्व) और आर्थिक संसाधनों पर नियंत्रण स्थापित करने की होड़ में, इस समतावादी सिद्धांत का सबसे निर्मम उल्लंघन स्वयं मुस्लिम शासकों और अशराफ़ उलेमाओं (कथित उच्चवर्गीय इस्लामी विद्वानों व धर्मशास्त्रियों) द्वारा किया गया। खिलाफत पर केवल कुरैश क़बीले (पैगंबर साहब के पैतृक कबीले) के स्थायी और दैवीय अधिकार के दावे गढ़े गए, जिससे शक्ति और सत्ता का केंद्रीकरण एक खास कुलीन समूह तक सीमित हो गया। इसके पश्चात् हदीसों (पैगंबर साहब के कहे गए वचनों, कार्यों और परंपराओं के संकलन) के दौर में सत्ता और कुलीन वर्ग के राजनीतिक व सामाजिक हितों को साधने के लिए अनेक ऐसी अप्रमाणिक, कमज़ोर एवं स्वार्थपरक

व्याख्याएं गढ़ी गईं, जिन्होंने नस्लीय व वंशीय श्रेष्ठता को बाक़ायदा धार्मिक मान्यता प्रदान कर दी।

भारतीय संदर्भ में संस्थागत स्तरीकरण: कुफ़ू, खुम्स और सामाजिक दूरी:

भारतीय उपमहाद्वीप के संदर्भ में यह विकृति तब और अधिक सघन तथा संस्थागत हो गई, जब विदेशी मूल का दावा करने वाले अशराफ़ शासक, सामंत और उलेमा भारत आए। यहाँ उन्होंने भारतीय समाज की पारंपरिक जाति व्यवस्था को समाप्त करने के बजाय अपने वर्चस्व के अनुकूल ढाल लिया। इस प्रक्रिया में '*तकरीम-ए-सादात*' (अर्थात् सैयदों का अत्यधिक, अटूट व अलौकिक सम्मान) की अवधारणा विकसित की गई। इसके तहत यह स्थापित किया गया कि एक सामान्य मुसलमान के लिए सैयद की सेवा करना, उसका चरण-वंदन (सजदा) व सम्मान करना और उसकी आर्थिक मदद करना परलोक में मोक्ष (जन्नत/स्वर्ग) प्राप्त करने का अनिवार्य माध्यम है। यहाँ तक कि यह धार्मिक व्याख्याएं भी प्रचारित की गईं कि यदि कोई सैयद निर्धन अथवा विपन्न है, तो यह उस सैयद की परीक्षा नहीं, बल्कि उसके आसपास रहने वाले सामान्य मुसलमानों की परीक्षा है कि वे उस सैयद की कितनी सेवा और आर्थिक सहायता करते हैं।

इस सामाजिक स्तरीकरण को कानूनी और व्यावहारिक रूप देने के लिए इस्लामी विधिशास्त्र (फ़िक़्ह अर्थात् इस्लामिक न्यायशास्त्र व मजहबी कानून) में '*कुफ़ू*' (विवाह में जातिगत, वंशगत एवं आर्थिक बराबरी) के सिद्धांत को तोड़-मरोड़ कर लागू किया गया। पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) के समय में कुफ़ू का व्यावहारिक अर्थ केवल वैवाहिक जीवन में पति-पत्नी के मध्य सामंजस्य, बौद्धिक मेल और आपसी समझ तक सीमित था। परंतु कालांतर में अशराफ़ विधिवेत्ताओं ने इसे जन्मजात रक्त-शुद्धता और जातिगत ऊँच-नीच के एक कठोर वैवाहिक प्रतिबंध (सगोत्रीय विवाह/एंडोगैमी) में बदल दिया।

कुफ़ू के इन मनमाने नियमों के तहत यह तय किया गया कि एक उच्च जाति का सैयद या शेख़ अपने से निचली जातियों जैसे अंसारी (बुनकर/जुलाहा), क़ुरैशी (क़साई), मंसूरी (धुनिया/कपास धुनने वाले), सैफ़ी (लोहार/बढ़ई), अथवा राईन (सब्ज़ी विक्रेता/कुंजड़ा) आदि में अपनी कन्या का विवाह नहीं कर सकता। 'मजमूए क़ानूने इस्लामी' जैसे प्रतिष्ठित कानूनी ग्रंथों में यह स्पष्ट दर्ज मिलता है कि अशराफ़ (कुलीन) का पसमांदा (स्थानीय धर्मांतरित श्रमजीवी मुस्लिम) के साथ विवाह ग़ैर-कुफ़ू (अनुचित, असमान व अस्वीकार्य) माना जाएगा [3]। इस प्रकार, जिस इस्लाम धर्म ने अंतर्जातीय बंधुत्व और समतामूलक समाज की नींव रखी थी, उसी के विधिशास्त्र को सजातीय विवाह के माध्यम से रक्त की शुद्धता और जातिगत भेदभाव को बनाए रखने का साधन बना दिया गया।

आर्थिक स्तर पर भी इस विशेषाधिकार को एक संस्थागत और कानूनी आधार दिया गया। इसका सबसे प्रत्यक्ष उदाहरण शिया न्यायशास्त्र में 'खुम्स' (शुद्ध वार्षिक लाभ अथवा आय का पाँचवाँ भाग यानी 20 प्रतिशत अनिवार्य धार्मिक कर) का विधान है [4]।

खुम्स को दो हिस्सों में विभाजित किया जाता है:

- **सहमे इमाम:** धार्मिक व सामुदायिक संस्थानों, मस्जिदों और मदरसों के प्रबंधन हेतु।
- **सहमे सादात:** जो केवल और केवल पैगंबर के वंशजों यानी सैयदों की निजी आवश्यकताओं, भरण-पोषण और आर्थिक लाभ के लिए आरक्षित है।

प्रोफेसर मसऊद आलम फ़लाही अपनी ऐतिहासिक पुस्तक 'हिंदुस्तान में ज़ात-पात और मुसलमान' में सप्रमाण उल्लेख करते हैं कि शिया विधि के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपनी शुद्ध कमाई का 20 प्रतिशत हिस्सा सैयदों के कल्याणार्थ देना अनिवार्य बनाया गया [5]। सुन्नी समाज में भी यद्यपि खुम्स की यह व्यवस्था इस रूप में लागू नहीं है, किंतु वहाँ भी सदक़ा (ऐच्छिक दान), नज़्र-ओ-नियाज़ (मन्नतों का चढ़ावा) और वक़्फ़ (धार्मिक संपत्तियों) के माध्यम से सैयदों और पीरज़ादों के लिए आर्थिक संसाधनों का एक अटूट प्रवाह सदियों से सुनिश्चित किया जाता रहा है।

सामाजिक धरातल पर सैयदों ने अपनी अलगाववादी और श्रेष्ठतावादी पहचान को अक्षुण्ण रखने के लिए अन्य स्थानीय जातियों से स्पष्ट भौगोलिक दूरी बनाए रखी। उनके मोहल्ले और बस्तियाँ अलग बसाई गईं, खान-पान और हुक्का-पानी के सामाजिक संपर्कों को सीमित किया गया और यहाँ तक कि मृत्यु के उपरांत उनके क़ब्रिस्तान भी अलग निर्धारित किए गए। भारतीय उपमहाद्वीप में स्थित 90 प्रतिशत से अधिक ऐतिहासिक मज़ारें और दरगाहें सैयदों की ही हैं। ये मज़ारें केवल आस्था के केंद्र नहीं रहीं, बल्कि वे अशराफ़ वर्ग के आध्यात्मिक नियंत्रण और निरंतर धनोपार्जन का एक विशाल साधन बनीं, जहाँ आने वाले अधिकांश श्रद्धालु पसमांदा और वंचित समाज से होते हैं।

पसमांदा समाज के साथ ऐतिहासिक विश्वासघात और मनोवैज्ञानिक नियंत्रण:

इस पूरी संरचना का सबसे हृदयविदारक पहलू भारत का पसमांदा (जिसका फ़ारसी में अर्थ है 'पीछे छूटा हुआ या दबाया गया/शोषित') मुस्लिम समाज है, जो कुल मुस्लिम आबादी का लगभग 85 प्रतिशत हिस्सा है। मध्यकाल में जिन भारतीय श्रमजीवी जातियों (जुलाहा, धुनिया, क़साई, तेली, धोबी, हजाम/नाई, भंगी, चमार आदि) ने हिंदू समाज के जातिगत उत्पीड़न और सामाजिक अपमान से मुक्ति पाने तथा इस्लाम के समतावादी दावों से आकर्षित होकर धर्म परिवर्तन किया था, उनके साथ ऐतिहासिक विश्वासघात हुआ। इस्लाम अपनाने के बाद भी उनकी सामाजिक स्थिति, उनके पारंपरिक व्यवसाय और उनके प्रति उच्च वर्ग के सामंती दृष्टिकोण में कोई बुनियादी बदलाव नहीं आया।

अशराफ़ उलेमाओं और शासकों ने उन्हें 'रज़ील' (नीच/अधम) अथवा 'अर्ज़ाल' (अत्यंत तुच्छ/अपवित्र) की अपमानजनक श्रेणियों में विभाजित कर दिया। उनके नाम ज़रूर बदले (जैसे जुलाहा से अंसारी, धुनिया से मंसूरी, कसाई से कुरैशी), परंतु उनके प्रति सामंती और जातिगत व्यवहार पूर्ववत बना रहा। यहाँ तक कि कई ऐतिहासिक अवसरों पर अशराफ़ उलेमाओं ने पसमांदा जातियों के लिए आधुनिक या उच्च धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने तक का कड़ा विरोध किया, ताकि वे उनके सामाजिक प्रभुत्व और धार्मिक एकाधिकार को चुनौती न दे सकें।

सैयदवाद केवल एक सामाजिक व्यवस्था नहीं रहा, बल्कि उसने साहित्य, मदरसों, अकादमिक विमर्शों और सांस्कृतिक माध्यमों के ज़रिए एक अत्यंत गहरा मनोवैज्ञानिक नियंत्रण तंत्र निर्मित किया। इस तंत्र की सबसे बड़ी सफलता यह रही कि इसने शोषित पसमांदा समाज के ही एक हिस्से मदरसों से पढ़कर निकले पसमांदा उलेमाओं को अपनी व्यवस्था का मानसिक पहरेदार बना दिया। ये पसमांदा छात्र और मौलवी अनजाने में उन्हीं फ़तवों (धार्मिक आदेशों) और किताबों को ईश्वरीय विधान समझकर पढ़ते और समाज में फैलाते रहे, जिनमें उनकी अपनी ही जातियों और पूर्वजों को हीन, नीच और अपमानित बताया गया था। जब कभी किसी पसमांदा बुद्धिजीवी ने इस जातिगत शोषण पर प्रश्न उठाया, तो अशराफ़ नेतृत्व ने उसे 'इस्लाम विरोधी', 'क़ौम को बाँटने वाला', अथवा 'विरोधी राजनीतिक शक्तियों का एजेंट' क़रार देकर सामाजिक रूप से बहिष्कृत करने का प्रयास किया।

मौलाना मसूद आलम फ़लाही की शोधपरक पुस्तक 'हिंदुस्तान में ज़ात-पात और मुसलमान' ने इसी ऐतिहासिक पाखंड और धर्मशास्त्रीय विचलन को प्रामाणिक हदीसों, फ़िक़्ह के मूल ग्रंथों और ऐतिहासिक दस्तावेजों के ठोस प्रमाणों के साथ उजागर करके एक व्यापक बौद्धिक क्रांति का सूत्रपात किया है। पसमांदा आंदोलन का यह स्पष्ट मानना है कि मुस्लिम समाज के भीतर वास्तविक न्याय, आंतरिक सुधार और समरसता की स्थापना तब तक संभव नहीं है, जब तक कि इस अघोषित 'सैयदवाद' और अशराफ़ वर्चस्व को सार्वजनिक रूप से स्वीकार न किया जाए और इसे समाप्त न किया जाए। यह संघर्ष धर्म को त्यागने का नहीं, बल्कि अशराफ़ वर्ग द्वारा अपहृत किए गए इस्लाम के मूल समतावादी संदेश (मसावात) को पुनर्स्थापित करने और पसमांदा दृष्टि से धर्मग्रंथों की मानवीय पुनर्व्याख्या करने का संघर्ष है।

सैयदवाद की ऐतिहासिक उत्पत्ति: खिलाफत का संघर्ष, शिया धर्मशास्त्र और अशराफ़ वर्चस्व का संस्थागत विकास:

भारतीय उपमहाद्वीप के मुस्लिम समाज में गहराई से व्याप्त जातिगत पदानुक्रम, जन्म-आधारित ऊँच-नीच और अशराफ़ (कथित उच्च व कुलीन वर्ग) के सामाजिक-धार्मिक आधिपत्य का अध्ययन करने के लिए 'सैयदवाद' की ऐतिहासिक उत्पत्ति की पड़ताल अनिवार्य है [6]। यह व्यवस्था किसी सामाजिक संयोग या अचानक हुई घटना का परिणाम नहीं है, बल्कि इसकी जड़ें प्रारंभिक इस्लामी इतिहास के उन राजनीतिक संघर्षों में निहित हैं, जो खिलाफत (राजनीतिक शासन व राजसत्ता) और इमामत (धार्मिक-आध्यात्मिक नेतृत्व) पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए लड़े गए [7]। ऐतिहासिक व धर्मशास्त्रीय साक्ष्यों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि सैयदवाद का मूल वैचारिक ढाँचा प्रारंभिक दौर में सत्ता हासिल करने और अपने राजनीतिक पक्ष को मजबूत करने के लिए शिया संप्रदाय द्वारा गढ़े गए वंशीय विमर्श से विकसित हुआ।

आगे चलकर जब अब्बासी वंश सत्ता में आया, तो उसने उमय्यद शासकों को उखाड़ फेंकने के लिए इसी 'अहले बैत' (अर्थात् पैगंबर साहब के पवित्र घराने/परिवार) के भावनात्मक प्रचार तंत्र का उपयोग किया। तख्त हासिल करने के बाद अब्बासियों ने अपनी राजनीतिक सत्ता को स्थायित्व व धार्मिक वैधता देने के लिए एक ऐसा आधिकारिक इस्लामी विमर्श संस्थागत किया, जिसने सैयदों की नस्लीय श्रेष्ठता और अशराफ़ वर्ग के विशेषाधिकारों को स्थायी बना दिया। पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) के जीवनकाल में जिस समतामूलक समाज और बंधुत्व की नींव रखी गई थी, उनके पर्दा फरमाने (मृत्यु) के तुरंत बाद उत्तराधिकार के प्रश्न पर उसमें गंभीर राजनीतिक दरारें उभर आईं।

चूँकि पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) का कोई जीवित पुत्र नहीं था, अतः नेतृत्व के चयन का मुद्दा मुस्लिम समाज में कबीलाई ध्रुवीकरण का कारण बना। अरब समाज सदियों से कबीलाई एकजुटता ('असबिया' यानी कबीलाई अंध-समर्थन) और रक्त-शुद्धता के जातीय अहंकार पर टिका था। क़ुरआन मजीद के सार्वभौमिक समतावादी संदेश के बावजूद यह सदियों पुरानी कबीलाई चेतना पूरी तरह समाप्त नहीं हुई थी। इसका सबसे बड़ा ऐतिहासिक विरोधाभास यह हुआ कि स्वयं पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) जिन्होंने अपने संपूर्ण जीवन में जन्मजात श्रेष्ठता को ध्वस्त किया था मृत्युपरांत एक नई सामाजिक कुलीनता के केंद्र बिंदु बना दिए गए। उनसे रक्त-संबंध या उनके कबीले (कुरैश) से जुड़ाव होना ही समाज में सर्वोच्च प्रतिष्ठा, सत्ता और विशेषाधिकार का स्थायी पैमाना बन गया।

वर्ष 632 ईस्वी में मदीना के 'सक़ीफ़ा बनू साएदा' (एक चौपाल) में हुआ सत्ता-विमर्श इस कबीलाई चेतना का प्रत्यक्ष प्रमाण था, जहाँ नेतृत्व के तीन प्रमुख दावेदार सामने आए:

- **मुहाजिर:** मक्का के वे प्रवासी मुस्लिम जो मक्का छोड़कर मदीना आए थे।
- **अंसार:** मदीना के स्थानीय मूल निवासी जिन्होंने मक्का के मुसलमानों की सहायता की थी।
- **बनू हाशिम:** पैगंबर साहब का अपना कबीला तथा चौथे ख़लीफ़ा अमीरुल मोमिनीन हज़रत अली इब्न अबी तालिब (रज़ियल्लाहु अन्हु - ईश्वर उनसे प्रसन्न हो) के समर्थक।

इस राजनीतिक विवाद के मध्य प्रथम ख़लीफ़ा के रूप में अमीरुल मोमिनीन हज़रत अबू बक्र सिद्दीक़ (रज़ियल्लाहु अन्हु) को चुना गया। इस राजनीतिक निर्णय को धर्मशास्त्रीय वैधता देने के लिए यह कथित रिवायत/हदीस प्रचारित की गई कि "अल-अइम्मतो मिनल कुरैश" अर्थात् 'इस्लाम के ख़लीफ़ा केवल कुरैश कबीले से ही होंगे'। यह आम जनता का लोकतांत्रिक चुनाव नहीं था, बल्कि कबीलाई सरदारों की आपसी राजनीतिक सहमति थी, जिसने नगरवासी कुरैश अरबों का वर्चस्व हमेशा के लिए स्थापित कर दिया।

प्रोफेसर मसऊद आलम फ़लाही अपनी पुस्तक 'हिंदुस्तान में ज़ात-पात और मुसलमान' में इस बात का गंभीर तार्किक विश्लेषण करते हैं कि खिलाफत पर कुरैश के अधिकार का यह दावा समानता के मूल सिद्धांतों पर पहला प्रहार था [8]। फ़लाही रेखांकित करते हैं कि यदि "अल-अइम्मतो मिनल कुरैश" वाली रिवायत को एक स्थायी शरई (धार्मिक व कानूनी) आदेश माना जाए, तो हदीस की अन्य रिवायतों के साथ गहरा विरोधाभास पैदा होता है। उदाहरण के लिए, एक प्रसिद्ध रिवायत में एक साथ तीन बातें कही गई हैं कि 'खिलाफत कुरैश में होगी, क़ज़ा (न्यायिक कार्य) अंसार में होगा, और अज़ान व दावत (धर्म-प्रचार) का कार्य अहले हबश (काले अफ़्रीकी मूल के लोगों) में होगा'। विधिशास्त्रीय दृष्टि से यदि खिलाफत केवल कुरैश के लिए आरक्षित है, तो न्याय केवल अंसार को ही करना चाहिए और अज़ान केवल हब्शी व्यक्ति को ही देनी चाहिए; किंतु संपूर्ण इस्लामी इतिहास में कभी भी न्यायाधीश (क़ाज़ी) या मुअज़्ज़िन (अज़ान देने वाले) के लिए ऐसी कोई नस्लीय शर्त नहीं मानी गई। अतः स्पष्ट है कि यह केवल उस समय की एक सामयिक राजनीतिक परिस्थिति का विवरण था, जिसे बाद के सत्तालोलुप कुलीन वर्गों ने एक शाश्वत ईश्वरीय विधान बनाकर पेश कर दिया ताकि शासन केवल एक खास कबीले तक ही सीमित रहे।

मदीना के छोटे, सादगीपूर्ण नगर-राज्य (City-State) से एक विशाल साम्राज्य में बदलने की प्रक्रिया ने इस सामाजिक पदानुक्रम को और अधिक मजबूत बना दिया। प्राच्यविद पेट्रीशिया क्रोन (Patricia Crone) अपनी पुस्तक 'गॉड्स रूल' (God's Rule) में लिखती हैं कि इस्लामी इतिहास में धर्म और राजनीतिक सत्ता मदीना के दौर में एक ही व्यवस्था के रूप में स्थापित हुए [9]। जब द्वितीय ख़लीफ़ा अमीरुल मोमिनीन हज़रत उमर फ़ारूक़ (रज़ियल्लाहु अन्हु) के दौर में फारसी (ससानी) और रोमन (बीजान्टिन) साम्राज्यों की पराजय हुई, तो इराक, सीरिया और मिस्र से अपार राजस्व ('फ़ै' यानी सरकारी भूमि और कर) मदीना आने लगा। इस विशाल विस्तार के प्रबंधन हेतु पहली बार 'दीवान' (पेंशन और वेतन का वित्तीय रजिस्टर) बनाया गया। इसमें भत्तों का वितरण व्यक्तिगत योग्यता या वर्तमान आवश्यकता के बजाय इस्लाम स्वीकार करने की ऐतिहासिक प्राथमिकता और पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) के कबीले से रिश्तेदारी व निकटता के आधार पर तय किया गया। इस वित्तीय व्यवस्था ने अनजाने में ही समाज में विभिन्न अरब कबीलों और गैर-अरबों के बीच आर्थिक असमानता की आधिकारिक नींव रख दी।

आगे चलकर तृतीय ख़लीफ़ा अमीरुल मोमिनीन हज़रत उस्मान ग़नी (रज़ियल्लाहु अन्हु) के दौर में जब प्रमुख प्रांतीय गवर्नर पद केवल उमय्यद कबीले को दिए जाने लगे, तो नव-मुस्लिम कबीलों और सेनाओं में तीव्र असंतोष भड़क उठा, जिसका अत्यंत दुखद अंत 656 ईस्वी में ख़लीफ़ा अमीरुल मोमिनीन हज़रत उस्मान (रज़ियल्लाहु

अन्हु) की हत्या के रूप में हुआ। इसके बाद चतुर्थ ख़लीफ़ा अमीरुल मोमिनीन हज़रत अली इब्न अबी तालिब (रज़ियल्लाहु अन्हु) के दौर में प्रथम मुस्लिम गृहयुद्ध (जमल और सिफ़्फ़ीन की लड़ाइयाँ) छिड़ा। हज़रत अली (रज़ियल्लाहु अन्हु) की शहादत के उपरांत सीरिया के गवर्नर अमीर मुआविया ने सत्ता पर कब्जा कर अपने पुत्र यज़ीद को उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। इसके साथ ही परामर्श-आधारित खिलाफत (ख़िलाफ़त-ए-राशिदा) का अंत हुआ और दमिश्क केंद्रित एक निरंकुश, वंशानुगत राजतंत्र ('मलूकियत') स्थापित हुआ, जिसे उमय्यद वंश (661–750 ई.) कहा जाता है [10]। प्रसिद्ध इतिहासकार इब्न ख़लदून अपने ग्रंथ 'मुक़द्दिमा' में स्पष्ट करते हैं कि जब साम्राज्य का विस्तार हुआ और कबीलाई ताक़त (असबिया) का प्रभुत्व बढ़ा, तो खिलाफत का राजतंत्र में बदलना एक अनिवार्य ऐतिहासिक परिणति बन गया [11]।

उमय्यद साम्राज्य के दौरान गैर-अरब मुसलमानों विशेषकर फारसियों (ईरानियों) को 'मवाली' (अर्थात् आश्रित, गुलाम या दोयम दर्जे का नागरिक) मानकर उनके साथ खुला भेदभाव किया गया और उनसे भी गैर-मुस्लिमों पर लगने वाला कर 'जिज़्या' (सुरक्षा कर) जबरन वसूला गया। उमय्यद शासकों ने अपनी निरंकुश सत्ता और कर्बला जैसी घटनाओं को सही साबित करने के लिए 'जबरिया' (अर्थात् भाग्यवादिता या नियतिवाद/Predestination) का सिद्धांत गढ़ा कि राजा का प्रत्येक अच्छा-बुरा कर्म ईश्वर की पूर्व-निर्धारित मर्जी है। इसके समानांतर, शिया संप्रदाय ने अपने राजनीतिक पक्ष को मजबूत करने के लिए 'इमामत' का एक अलौकिक धर्मशास्त्र विकसित किया। शिया अक़ीदे के अनुसार, पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) के बाद राजनीतिक व आध्यात्मिक नेतृत्व का अधिकार केवल चौथे ख़लीफ़ा अमीरुल मोमिनीन हज़रत अली (रज़ियल्लाहु अन्हु) और पैगंबर की सुपुत्री हज़रत फ़ातिमा ज़हरा (रज़ियल्लाहु अन्हा) की संतानों को ही प्राप्त है। उन्होंने दावा किया कि 12 इमाम पैगंबर की तरह 'मासूम' (त्रुटिहीन/पाप-रहित) और ईश्वरीय प्रकाश (नूर) के जन्मजात वाहक हैं।

वर्ष 680 ईस्वी में कर्बला के मैदान में पैगंबर साहब के नवासे हज़रत इमाम हुसैन (रज़ियल्लाहु अन्हु) और उनके परिजनों की शहादत ने शिया विमर्श को केवल एक राजनीतिक दल से बदलकर एक अत्यधिक भावनात्मक, नैतिक और शहादत-केंद्रित धार्मिक संप्रदाय में परिवर्तित कर दिया। 'बदला-ए-हुसैन' और 'अहल-ए-बैत' (पैगंबर के पवित्र घराने) के अधिकारों की रक्षा का नारा उमय्यद-विरोधी ताकतों का सबसे शक्तिशाली वैचारिक हथियार बन गया। शिया उलेमाओं ने अपने इस वंशीय दावे को पुख्ता करने के लिए यह विचार प्रचारित किया कि पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) की जैविक नस्ल केवल हज़रत फ़ातिमा (सलामउल्लाहि अलैहा / रज़ियल्लाहु अन्हा) के दोनों पुत्रों हज़रत इमाम हसन (रज़ियल्लाहु अन्हु) और हज़रत इमाम हुसैन (रज़ियल्लाहु अन्हु) से ही चलती है।

इस प्रक्रिया में पैगंबर साहब की अन्य तीन पुत्रियों हज़रत ज़ैनब (रज़ियल्लाहु अन्हा), हज़रत रुकय्या (रज़ियल्लाहु अन्हा), और हज़रत उम्मे कुलसूम (रज़ियल्लाहु अन्हा) तथा उनके वंशजों को इतिहास के हाशिए पर धकेल दिया गया, क्योंकि उनका विवाह उमय्यद खानदान में हुआ था जो बनू हाशिम के राजनीतिक प्रतिद्वंद्वी थे। इसके साथ ही, कुरआन मजीद और शरीयत के उस सर्वमान्य नियम की अनदेखी की गई जिसमें स्पष्ट कहा गया है कि मानवों में नस्ल पिता से चलती है, माता से नहीं (कुरआन मजीद 33:5, 33:40)। स्वयं हनफ़ी और शिया न्यायशास्त्र में जब सामान्य विधि का प्रश्न आता है, तो उलेमा यह फ़तवा देते हैं कि बच्चे का वंश पिता से तय होगा, लेकिन जब सैयदों की श्रेष्ठता सिद्ध करनी होती है, तो वे तुरंत पैगंबर साहब की बेटी से नस्ल चलने का एक मनमाना अपवाद गढ़ लेते हैं।

जब हम इस्लामी इतिहास के आईने में जुमे (शुक्रवार की सामूहिक नमाज़) के उपदेशों (ख़ुत्बों) के क्रमिक विकास का अध्ययन करते हैं, तो साफ झलकता है कि बाद के दौर में आए राजनीतिक भूचालों ने मिम्बर-ओ-मेहराब (मस्जिद के धार्मिक मंच) की पवित्रता और समतावादी स्वरूप को भी गहरे रूप से प्रभावित किया। इसी का परिणाम था कि ख़ुत्बों में केवल 'सय्यदतुन्निसा' (महिलाओं की सरदार) हज़रत फ़ातिमा ज़हरा (रज़ियल्लाहु अन्हा) और उनकी संतानों का ही विशेष उल्लेख होने लगा, जबकि पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) के घर-आँगन की शेष तीन बेटियों और उम्महातुल-मोमिनीन (अर्थात् समस्त ईमान वालों की माताएं - पैगंबर साहब की पवित्र पत्नियाँ) के पवित्र नामों पर ख़ामोशी की चादर डाल दी गई।

इसके पीछे एक गहरा राजनीतिक गणित था; क्योंकि अगर शिया दृष्टिकोण पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) के वंश-वृक्ष (शजरा-ए-मुबारका) में एक से अधिक पुत्रियों को स्वीकार करता, तो पैगंबर का वंश उन बाकी पुत्रियों के कुल से भी जुड़ जाता। ऐसी स्थिति में राजनीतिक सत्ता और इमामत के मंच पर

हज़रत अली (रज़ियल्लाहु अन्हु) का कुनबा इकलौता दावेदार नहीं रह जाता। अतः यह धार्मिक चयन कोई विशुद्ध आध्यात्मिक आस्था नहीं है, बल्कि यह उस स्थापित कुलीनवादी (अशराफ़) मानसिकता और राजनीतिक बपौती की अभिव्यक्ति है, जो समाज के भीतर केवल एक खास रक्त-रेखा को ही श्रेष्ठ मानती है और आम शोषित या पसमांदा वर्ग को हक़ और सम्मान के स्थान से दूर, हमेशा के लिए हाशिए पर धकेल देती है।

इस व्यापक शिया जन-असंतोष का लाभ पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) के सगे चाचा हज़रत अब्बास (रज़ियल्लाहु अन्हु) के वंशजों (जिन्हें 'अब्बासी' कहा जाता है) ने उठाया। 718 से 750 ईस्वी के दौरान अब्बासियों ने ईरान और खुरासान में लगभग तीन दशकों तक एक अत्यंत सुनियोजित और गोपनीय अभियान (अब्बासी दावाह) चलाया। इतिहासकार मोशे शेरोन (Moshe Sharon) अपनी पुस्तक 'ब्लैक बैनर्स फ्रॉम द ईस्ट' में बताते हैं कि अब्बासियों ने कभी खुलकर यह नहीं कहा कि खलीफा अब्बासी परिवार से बनेगा, बल्कि उन्होंने "अल-रिज़ा मिन आल-ए-मुहम्मद" (अर्थात् 'पैगंबर के घराने से वह सर्वमान्य व्यक्ति जिस पर सबकी सहमति हो') का सर्वसमावेशी व भावनात्मक नारा दिया [12]।

मुस्लिम समाज में 'सैयदवाद' या नस्लीय श्रेष्ठता को बढ़ावा देने की जड़ें वास्तव में राजनीतिक सत्ता हासिल करने के इसी खेल से जुड़ी हैं। बनी अब्बास और बनी फ़ातिमा के उच्च कुलीन तबकों ने आम मुसलमानों पर शासन करने और खुद को पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) के सबसे करीब दिखाने के लिए 'आल-ए-मुहम्मद' शब्द का राजनीतिक उपयोग शुरू किया। अब्बासी हुकूमत ने अपने राजनीतिक समर्थकों के ज़रिए दुरूद (शांति-प्रार्थना) और सरकारी ख़ुत्बों में इस शब्द को दाखिल कराया। इस तरह धार्मिक प्रतीकों का इस्तेमाल करके एक खास खानदान को सर्वोच्च और आम पसमांदा मुसलमानों को धार्मिक रूप से हमेशा के लिए पीछे धकेल दिया गया [15]।

इस नारे के प्रभाव में शिया, गैर-अरबी मुस्लिम (मवाली) और आम मुस्लिम जनता पूरी तरह एकजुट हो गए और जनवरी 750 ईस्वी में 'ज़ाब के युद्ध' में उमय्यद साम्राज्य का सदा के लिए पतन हो गया। किंतु सत्ता मिलते ही पहले अब्बासी खलीफा अबुल अब्बास 'अल-सफ़्फ़ाह' (जिसका अर्थ है 'रक्त बहाने वाला') ने शासन सीधे अपने हाथों में ले लिया और हज़रत अली (रज़ियल्लाहु अन्हु) के वंशजों (अलवियों/फातिमियों) को सत्ता से पूरी तरह बेदखल कर दिया। 755 ईस्वी में दूसरे अब्बासी खलीफा अबू जाफ़र अल-मंसूर ने खुरासानी जननायक अबू मुस्लिम को धोखे से कत्ल करवा दिया।

जब अलवियों ने देखा कि सत्ता पाने के बाद उनके साथ विश्वासघात हुआ है, तो 762 ईस्वी में हज़रत इमाम हसन (अलैहिस्सलाम / रज़ियल्लाहु अन्हु) के प्रपौत्र मुहम्मद इब्न अब्दुल्लाह (जिन्हें 'अल-नफ़्स अल-ज़किया' अर्थात् 'पवित्र आत्मा' कहा जाता था) ने मदीना में अब्बासियों के विरुद्ध खुला सशस्त्र विद्रोह कर दिया [13]। इस ऐतिहासिक विद्रोह के दौरान विद्रोही नेता अल-नफ़्स अल-ज़किया और अब्बासी खलीफा अल-मंसूर के बीच हुआ पत्र-व्यवहार इस बात का दस्तावेज़ है कि कैसे दोनों पक्ष मुस्लिम सत्ता (खिलाफत) को केवल अपनी 'नस्ल' और 'रक्त' की बपौती साबित करने के लिए धार्मिक दलीलें दे रहे थे। इतिहासकार शाह मुईनुद्दीन अहमद नदवी अपनी पुस्तक 'तारीख़-ए-इस्लाम' में इस पत्र को विस्तार से उद्धृत करते हैं [14]। अल-नफ़्स अल-ज़किया ने खलीफा मंसूर को पत्र लिखकर अपनी रक्त-शुद्धता का दावा किया कि वे माता और पिता दोनों पक्षों से पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) और हाशिम खानदान का शुद्धतम निचोड़ हैं और उनकी रगों में किसी दासी (बांदी) या गैर-अरबी माँ का खून नहीं है।

इसके जवाब में खलीफा मंसूर ने पितृसत्तात्मक विरासत कानून का तर्क देते हुए लिखा कि इस्लाम में बेटियों (हज़रत फ़ातिमा ज़हरा सलामउल्लाहि अलैहा) के माध्यम से विरासत नहीं चलती; पिता की गैर-मौजूदगी में जीवित चाचा (हज़रत अब्बास रज़ियल्लाहु अन्हु) पुरुष उत्तराधिकारी होने के नाते पैगंबर साहब के मुख्य और कानूनी वारिस बनते हैं। मंसूर ने व्यंग्य करते हुए लिखा कि खुद नफ़्स-ए-ज़किया के पूर्वज और शिया इमाम हज़रत ज़ैनुल आबिदीन (अलैहिस्सलाम) एक गैर-अरबी दासी माँ (उम्मे वलद) की कोख से पैदा हुए थे। अंततः खलीफा अल-मंसूर ने अपनी विशाल सेना भेजकर मदीना में अल-नफ़्स अल-ज़किया को कत्ल करवा दिया।

अब्बासियों ने सैन्य विद्रोह तो कुचल दिया, लेकिन वे 'अहले बैत' और सैयदों के प्रति आम जनता में फैल चुके गहरे भावनात्मक आदर को समाप्त नहीं कर सके। अपनी राजसत्ता की स्थिरता और जनता में स्वीकार्यता बनाए रखने के लिए अब्बासियों ने एक आधिकारिक इस्लामी विमर्श गढ़ा। अब्बासी खिलाफत के पतन के दौर में जब शासकों ने अपने राजनीतिक हितों के लिए खुद को ज़मीन पर 'जिल्लुल्लाह' (अर्थात् ईश्वर की छाया) घोषित कर जुमे के ख़ुत्बों में सुल्तानों की झूठी तारीफ़ व कसीदाख़्वानी अनिवार्य कर दी, तो

दरअसल उन्होंने शिया अक़ीदे के 'इमामत' और मासूमियत (पाप-रहित होने) के उसी सिद्धांत को सुन्नी विमर्श में शामिल किया जो व्यक्ति-पूजा को धार्मिक रूप देता है।

हज़रत अली (रज़ियल्लाहु अन्हु) को अन्य सभी पर श्रेष्ठ बताने वाले सुन्नी समूहों (तफ़ज़ीलिया) के ज़रिए शियाओं के इसी अनुकरण ने सुन्नी समाज के भीतर 'सैयदवाद' यानी जन्म-आधारित नस्लीय श्रेष्ठता की उस सोच को मज़बूत किया, जिसने एक ख़ास ख़ानदान को आम इंसानों से ऊँचा, गुनाहों से पाक और जन्मजात रूप से धार्मिक व सांसारिक नेतृत्व का एकमात्र हक़दार बना दिया। यह नस्लीय बपौती और शासक व पीर वर्ग को दैवीय विशेषाधिकार सौंपना खुलफ़ा-ए-राशिदीन (रज़ियल्लाहु अन्हुम - चारों न्यायप्रिय प्रारंभिक खलीफाओं) के उस सादगी, शूरायत (लोकतांत्रिक परामर्श) और बराबरी से भरे इस्लाम के बिल्कुल विपरीत था जहाँ कोई जाति, कुल या ख़ून श्रेष्ठ नहीं था।

'सैयद' और 'शरीफ़' उपाधियों की ऐतिहासिक वास्तविकता और विकास:

ऐतिहासिक और भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से अरब समाज में "सैयद" और "शरीफ़" नाम की किसी भी जाति का कोई अस्तित्व नहीं रहा है। अरबी भाषा में 'सैयद' का शाब्दिक अर्थ श्रीमान (सर/मास्टर) और 'सैयदा' का अर्थ श्रीमती होता है, जबकि 'शरीफ़' का अर्थ सम्मानित, कुलीन और प्रतिष्ठित व्यक्ति होता है। पवित्र क़ुरआन मजीद, प्रामाणिक हदीसों और प्राचीन अरबी काव्य में 'सैयद' और 'शरीफ़' शब्द कबीले के सरदारों और समाज के प्रतिष्ठित लोगों के लिए सामान्य रूप से प्रयोग हुए हैं—चाहे वे व्यक्ति मुस्लिम रहे हों या गैर-मुस्लिम। पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) के इस दुनिया से जाने के अनेक शताब्दियों बाद तक भी यह शब्द किसी एक वंश की जातिगत पहचान नहीं थे। बाद के दौर में 'सैयद' और 'शरीफ़' की उपाधियों को हज़रत फ़ातिमा ज़हरा (रज़ियल्लाहु अन्हा) की संतान अर्थात् हज़रत इमाम हसन (रज़ियल्लाहु अन्हु) और हज़रत इमाम हुसैन (रज़ियल्लाहु अन्हु) के वंशजों के लिए खास (आरक्षित) कर दिया गया। ऐतिहासिक दस्तावेज़ों के अनुसार, सबसे पहले यह उपाधि बनू बुवैह के शिया शासक बहाउद्दौला (971–1012 ई.) ने 401 हिजरी / 1010 ईस्वी में प्रसिद्ध शिया ग्रंथ 'नहजुल बलाग़ा' के संकलनकर्ता 'शरीफ़ुर्रज़ी' (Sharif al-Radi) को आधिकारिक व सरकारी रूप से प्रदान की थी [15, पृष्ठ 141]। इसके बाद यह उपाधि न केवल उनके नाम का अभिन्न अंग बन गई, बल्कि उनके परिवार और अन्य हाशिमी परिवारों के नामों के साथ भी पाँचवीं शताब्दी हिजरी से एक स्थायी खानदानी उपाधि के तौर पर प्रयोग होने लगी। इस उपाधि के आरक्षित होने की ऐतिहासिक वास्तविकता केवल इतनी है कि एक शिया शासक ने अपने राजनीतिक व धार्मिक प्रसार के बदले, जो सेवाएँ बनू बुवैह के संरक्षण में नहजुल बलाग़ा के लेखक ने दी थीं, उन्हें मान्यता देते हुए 'अल-शरीफ़' की सामान्य उपाधि को उनकी नस्ल और प्रतिष्ठा को प्रकट करने के लिए विशेष बना दिया।

मशहूर इस्लामी विद्वान अल्लामा जलालुद्दीन सुयूती (849–911 हिजरी / 1445–1505 ईस्वी) ने अपनी पुस्तक 'अल-अख़बारुल मुस्तफ़ादा फी असमाइल खुलफ़ा' (और अल-इख़्फ़ातुल हुस्नीय्या) में लिखा है कि 'अश-शरीफ़' की उपाधि पहले बगदाद में हर अब्बासी, अलवी, जाफ़री और अक़ीली के लिए प्रयोग होती थी और मिस्र में हर अलवी के लिए [15, पृष्ठ 161-162]। किंतु जब मिस्र में फ़ातिमी (उबैदी) शिया साम्राज्य स्थापित हुआ, तो उन्होंने 'शरीफ़' की उपाधि को केवल और केवल हज़रत हसन (रज़ियल्लाहु अन्हु) और हज़रत हुसैन (रज़ियल्लाहु अन्हु) की संतानों के लिए आरक्षित कर दिया और यह परंपरा लंबे समय तक मिस्र में जारी रही।

हज़रत फ़ातिमा (सलामउल्लाहि अलैहा / रज़ियल्लाहु अन्हा) की संतान अर्थात् हज़रत हसन और हज़रत हुसैन (रज़ियल्लाहु अन्हुमा) के लिए 'शरीफ़' और 'सैयद' की उपाधि का नस्लीय प्रयोग बगदाद के शिया शासकों ने शुरू किया था और इसे मिस्र के फ़ातिमी शासकों ने संस्थागत रूप दिया। यह घटना 5वीं शताब्दी हिजरी के आरंभ की है। उस ज़माने से पहले और बाद में अनेक अलवी, हसनी और हुसैनी सरकारें तबरिस्तान, दैलम, यमन और पश्चिमी अफ्रीका में स्थापित हुईं, लेकिन उनमें से किसी शासक ने 'शरीफ़' और 'सैयद' की उपाधि को नस्लीय रूप से केवल अपने लिए आरक्षित नहीं किया और न ही अपनी नस्ल को व्यक्त करने के लिए 'फ़ातिमी' शब्द का प्रयोग किया। यह उपाधि आरक्षित करना मिस्र के उबैदी शासकों के महदवियत और फातिमीयत के दावों की ही एक राजनीतिक कड़ी थी।

फ़ातिमी शासक हुसैन अल-हाकिम बिअम्रिल्लाह (अल-हाकिम उबैदी) ने 'शरीफ़' और 'सैयद' की उपाधि को विशेष रूप से हज़रत हुसैन (रज़ियल्लाहु अन्हु) की संतान के लिए निर्धारित किया। इसी अल-हाकिम के बारे में इस्माईली प्रचारकों ने यह भविष्यवाणियाँ प्रचारित की थीं कि उन्हीं के दौर में धर्म की सत्ता हुसैन की 'पवित्र नस्ल' की ओर लौटेगी। अपनी सत्ता के राजनीतिक और धार्मिक पक्ष की कमजोरी को छिपाने के लिए अल-हाकिम उबैदी ने जहाँ काहिरा में "रासुल हुसैन"

(हज़रत हुसैन के कटे हुए सिर की कथित मज़ार) की मस्जिद का निर्माण कराया और मदीना से पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) के पवित्र रौज़े (क़ब्र) को स्थानांतरित करने का असफल प्रयास किया, वहीं दूसरी ओर 'शरीफ़' और 'सैयद' की उपाधि को केवल हुसैन की संतान के लिए आरक्षित कर दिया गया। 5वीं सदी हिजरी के बाद से इस्माईली प्रचारकों जैसे नासिर खुसरो और अबू नस्र हेबतुल्लाह शीराज़ी आदि की गतिविधियों के प्रभाव से ईरान, खुरासान और भारत में छठी शताब्दी हिजरी से हज़रत हसन और हज़रत हुसैन (रज़ियल्लाहु अन्हुमा) की संतान के नस्लीय नेतृत्व का प्रचार शुरू हुआ [15, पृष्ठ 185-191]। इसके विपरीत, मूल अरब क्षेत्र (हिजाज़ और सीरिया), जहाँ वास्तविक कुरैशी और हाशिमी कबीले आरंभ से बसे हुए हैं, वहाँ अपनी नस्ल को व्यक्त करने के लिए न कभी 'सैयद' और 'शरीफ़' शब्दों का इस तरह प्रयोग हुआ और न आज होता है।

वर्गवाद से मुक्त इस्लामी समाज में नस्लीय भेदभाव पैदा करने के लिए उबैदी शासकों ने उपाधियों को नस्ल के साथ जोड़ने की जो 'बिदअत' (धर्म में मनगढ़ंत नई प्रथा जिसका प्रमाण क़ुरआन और हदीस में न हो) शुरू की थी, उसे ईरान और भारत में समय बीतने के साथ अपने पूर्वजों पर झूठे गर्व की भावना के तहत अपना लिया गया। महदी के आगमन और वंशीय श्रेष्ठता से जुड़ी मनगढ़ंत हदीसों को कुछ विद्वानों ने अपनी किताबों में दर्ज किया और बाद के पीर-फ़कीरों व सूफ़ियों ने भी अपने सांसारिक व आध्यात्मिक स्वार्थों के लिए इसे पूरी तरह आत्मसात कर लिया।

उलेमाओं में एक बड़ा वर्ग सैयद उलेमाओं का था। इन सैयद मौलवियों ने मनगढ़ंत कहानियाँ और झूठी हदीसें गढ़ कर सैयदों की श्रेष्ठता को धार्मिक रूप से स्थापित किया। उन्होंने इस बात को मुस्लिम समाज के अवचेतन में गहराई से बैठा दिया कि सैयद जन्म से ही श्रेष्ठ और पूजनीय हैं। यही कारण रहा कि तत्कालीन मुस्लिम शासक सादात (सैयद) परिवारों की विशेष देखभाल करते थे। क़ाज़ी (धार्मिक न्यायाधीश), मुफ़्ती (धार्मिक व्यवस्था देने वाले) और सदर (मुख्य धार्मिक प्रशासक) जैसे सभी प्रमुख ओहदे इन्हीं सैयदों को दिए जाते थे। इसके अतिरिक्त, उच्च प्रशासनिक पद भी उन्हें ही सौंपे जाते थे। उन्हें विशाल जागीरें (भूमि संपत्तियाँ), वज़ीफ़े (पेंशन) एवं छात्रवृत्तियाँ प्रदान की जाती थीं। शासक उनका अत्यधिक आदर करते थे तथा उनके अपराध आमतौर पर क्षमा कर दिए जाते थे। यहाँ तक कि हत्या जैसे गंभीर मामले में भी किसी सैयद को मौत की सज़ा नहीं दी जाती थी, क्योंकि मुस्लिम शासक किसी सैयद का ख़ून बहाना अपने शासन के लिए अपशकुन और अनिष्टकारी मानते थे।

इस सामंती और धार्मिक नज़रिए का सीधा परिणाम यह हुआ कि सैयद वर्ग अत्यधिक सुविधा-सम्पन्न और प्रभावशाली बन गया। इन सभी सुविधाओं, संपत्तियों और विशेषाधिकारों को एक छोटे से पारिवारिक दायरे में सीमित रखने के लिए सैयदों ने अन्य स्थानीय जातियों एवं समूहों से सामाजिक संबंध विच्छेद कर लिया तथा यह दावा किया कि केवल उनका रक्त ही शुद्ध है। इस कथित ख़ून को शुद्ध रखने के लिए वे 'कुफ़ू' के सिद्धांत को मनमाने रूप से इस्लाम में लेकर आए। वे केवल अपने ही परिवारों में विवाह करते थे तथा अन्य जाति-समूहों से उनके आवासीय क्षेत्र और बस्तियाँ दूर होती थीं। यहाँ तक कि उनके क़ब्रिस्तान भी अलग निर्धारित किए गए ताकि लोग उनकी मज़ार पर आकर चादर और चढ़ावा चढ़ा सकें, क्योंकि ये मक़बरे और मज़ारें स्थायी आमदनी का एक विशाल स्रोत होते हैं। इन असाधारण सुविधाओं और सामंती संरक्षण के आकर्षण के कारण बहुत बड़ी संख्या में सैयदों ने मध्य एशिया, ईरान तथा अरबी दुनिया से भारत की ओर प्रवास करना शुरू किया। भारतीय उपमहाद्वीप में सादात (सैयद) परिवारों की संख्या इतनी बढ़ गई कि लगभग हर शहर और गाँव में एक-दो सैयद परिवार बस गए, जिनके वंशीय अहंकार से वे स्वयं को गौरवान्वित मानते थे [39]।

यहाँ यह समझना अत्यंत आवश्यक है कि सैयदवाद को जीवित रहने के लिए उन लोगों की सहायता और सहयोग की निरंतर ज़रूरत होती है, जिन लोगों पर यह विचारधारा शासन करती है। वस्तुतः पसमांदा मुसलमानों की अज्ञानता, अंधश्रद्धा और सहयोग से ही यह विचारधारा सदियों से फल-फूल रही है। एक विचारधारा के स्तर पर सैयदवाद सबसे पहले क़ुरआन और हदीस के चयनात्मक संदर्भों के ज़रिए इस बात की मजहबी वैधता स्थापित करता है कि 'सैयद जन्म से श्रेष्ठ हैं'। एक बार जब इस मिथक को इस्लामी वैधता प्राप्त हो जाती है, तो सैयदवाद के आदेशों का पालन करना 85 प्रतिशत पसमांदा मुसलमानों का अनिवार्य नैतिक और मजहबी कर्तव्य बन जाता है।

सैयदवाद को फैलाने का कार्य विभिन्न माध्यमों और संस्थाओं से संपन्न होता है। इसके लिए अलग-अलग क्षेत्रों के विशिष्ट कौशल और ज्ञान वाले ऐसे लोगों की आवश्यकता होती है, जो अदब (साहित्य), मीडिया, सांस्कृतिक आयोजनों, मदरसों और विश्वविद्यालयों में सैयदवादी विचारधारा को बौद्धिक रूप से स्थापित कर सकें। यही वे मनोवैज्ञानिक और वैचारिक कारक हैं जो पसमांदा मुसलमानों को

सैयदवादी विचारधारा के आगे नतमस्तक होने और अनजाने में इसे आगे बढ़ाने के लिए प्रेरित करते हैं। सत्ता और शक्ति के ये सभी स्रोत वस्तुतः पसमांदा समाज की मूक स्वीकृति और आज्ञाकारिता पर ही निर्भर करते हैं। सैयदवादी व्यवस्था अपने भौतिक संसाधनों को सुदृढ़ करने के लिए मदरसों, दरगाहों-मज़ारों (भारतीय उपमहाद्वीप में 99 प्रतिशत मज़ारें सैयदों की ही स्थापित हैं), राजनीतिक संगठनों और सामाजिक संस्थाओं पर अपना पूर्ण नियंत्रण रखती है। इसके साथ ही, उन सभी जागरूक व्यक्तियों और चिंतकों को जो सैयदवाद की इस वर्चस्ववादी विचारधारा के विरुद्ध आवाज़ उठाते हैं हर उस संस्था, संगठन और मंच में प्रवेश करने से पूरी तरह रोक दिया जाता है जिस पर सैयदवाद का आधिपत्य स्थापित है।

मध्यकाल में जब यह व्यवस्था ईरान और मध्य एशिया से होते हुए भारतीय उपमहाद्वीप में पहुँची, तो इसने यहाँ की स्थानीय सामंती और वर्ण-व्यवस्था के साथ मिलकर एक अत्यंत कठोर रूप धारण कर लिया। मुग़ल बादशाह हुमायूँ के समय जब ईरानी शिया उलेमा और जागीरदार बड़ी संख्या में भारत आए, तो 'पंजतन पाक' (पाँच पवित्र हस्तियाँ: पैगंबर हज़रत मुहम्मद सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम, हज़रत अली रज़ियल्लाहु अन्हु, हज़रत फ़ातिमा रज़ियल्लाहु अन्हा, हज़रत इमाम हसन रज़ियल्लाहु अन्हु, और हज़रत इमाम हुसैन रज़ियल्लाहु अन्हु) और 'तकरीम-ए-सादात' (सैयदों की वंदना) का विमर्श सामान्य मुस्लिम जनमानस में गहराई से बैठा दिया गया।

इस्लाम का बुनियादी संदेश पूरी तरह बराबरी (समतावाद) का था, जहाँ जुमे का ख़ुत्बा केवल एक सामाजिक, नैतिक और रूहानी मार्गदर्शन होता था। लेकिन जब मुस्लिम सत्ताओं में नैतिक और राजनीतिक गिरावट आई, तो राजाओं, सुल्तानों और नवाबों को खुश करने के लिए 'दरबारी मौलवियों' का सहारा लिया गया। प्रोफेसर मसऊद आलम फ़लाही लिखते हैं कि इब्ने नबाता जैसे दरबारी लेखकों ने ऐसे लिखित ख़ुत्बे तैयार किए, जिनमें शासकों और कुछ खास खानदानों की शान में झूठी प्रशंसा के कसीदे पढ़े गए थे। बाद में, भारतीय उपमहाद्वीप के उलेमा ने बिना किसी ऐतिहासिक व धर्मशास्त्रीय जाँच-परख के इन्हीं लिखित ख़ुत्बों और गढ़ी हुई कहानियों को मस्जिदों के मिम्बर (धार्मिक मंच) से हर जुमे को दोहराना शुरू कर दिया। जब सदियों तक हर हफ्ते आम पसमांदा (पिछड़ा और शोषित) मुसलमान मजहबी मंच से यही सुनता रहा कि 'अमुक खानदान ही जन्मजात श्रेष्ठ, पवित्र और जन्नत का हकदार है', तो उसने इसे ईश्वर का अटल कानून मान लिया। इस तरह, जो धर्म बराबरी सिखाने आया था, उसी के पवित्र मंच का इस्तेमाल करके 'सैयदवाद' (जन्म-आधारित ऊँच-नीच) को धर्म का अनिवार्य हिस्सा बना दिया गया, जिसने आम पसमांदा मुसलमानों को स्थायी रूप से मानसिक गुलाम बना दिया।

यदि हम पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) की प्रामाणिक हदीसों और उनके महान साथियों (सहाबा-ए-किराम), जैसे द्वितीय ख़लीफ़ा अमीरुल मोमिनीन हज़रत उमर फ़ारूक़ (रज़ियल्लाहु अन्हु) और हज़रत अब्दुल्लाह इब्ने अब्बास (रज़ियल्लाहु अन्हु) के नमाज़ पढ़ने के तरीके और धार्मिक जीवन को देखें, तो यह अकादमिक तथ्य पूरी तरह स्पष्ट होता है कि वे नमाज़ अथवा इबादत के अंदर किसी भी खानदान या जाति को बड़ा या छोटा नहीं मानते थे। शुरूआती इस्लाम पूरी तरह बराबरी, सदाचार और मानवीय भाईचारे पर टिका था। लेकिन बाद के दौर में सैयदवादी विचारधारा के लोगों ने समाज में यह डर और भ्रम फैलाया कि "यदि तुम नमाज़ में हमारी (सैयदों/आल की) विशेष ताज़ीम या बड़ाई नहीं करोगे, तो तुम्हारी नमाज़ और इबादत ईश्वर के यहाँ स्वीकार ही नहीं होगी।" इस तरह उन्होंने ईश्वर और बंदे के बीच खुद को 'बिचौलिया' (मध्यस्थ पुरोहित) बना लिया।

इस षड्यंत्र का सबसे खतरनाक हिस्सा यह था कि पसमांदा समाज जो समाज का वास्तविक उत्पादक, शिल्पकार और श्रमजीवी वर्ग है को मानसिक रूप से गुलाम बना दिया जाए। उन्हें बचपन से यह सिखाया गया कि तुम चाहे जितने बड़े विद्वान (आलिम) या नेक इंसान बन जाओ, तुम जन्म से एक 'सैयद' के बराबर कभी नहीं हो सकते। कोई भी व्यक्ति केवल किसी खास कुल या वंशावली (शजरे) में पैदा होकर दूसरों का 'आक़ा' या जन्मजात श्रेष्ठ नहीं हो सकता। सैयदवाद ने 'आल' और 'अहले बैत' के पवित्र नाम पर एक ऐसा 'धार्मिक ब्राह्मणवाद' खड़ा किया है, जो इस्लाम के बुनियादी सिद्धांतों के पूरी तरह विपरीत है। अगर खानदानी रिश्ता ही परलोक में मोक्ष (नजात) का आधार होता, तो ईश्वर के मित्र (ख़लीलुल्लाह) हज़रत इब्राहीम (अलैहिस्सलाम) के मूर्तिपूजक पिता 'आज़र' और स्वयं पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) के सगे चाचा 'अबू लहब' को पवित्र कुरआन मजीद हमेशा के लिए नरकवासी (जहन्नमी) घोषित न करता (कुरआन मजीद, सूरह अल-लहब 111:1-5)।

ईश्वर के दरबार में न्याय, दंड और पुरस्कार का पैमाना केवल 'तक़वा' (सदाचार) है, न कि सैयदों की नसों में दौड़ने वाला तथाकथित अलौकिक रक्त। इस सैयदवादी नस्ल-परस्ती ने सदियों से मेहनतकश पसमांदा समाज की पहचान और अधिकारों को कुचला है। ईश्वरीय

आदेश केवल पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) के दिखाए मार्ग पर चलने का है, किसी जाति विशेष की दासता स्वीकार करने का नहीं।

आधुनिक भारतीय मसलक (देवबंदी व बरेलवी) और सैयदवाद का सुदृढ़ीकरण:

आधुनिक काल में जब 19वीं और 20वीं सदी में भारत के भीतर देवबंदी और बरेलवी मसलक (विचारधाराएं व संप्रदाय) उभरे, तो उन्होंने भी इस शिया-जनित सैयदवादी पदानुक्रम को न केवल जस-का-तस अपनाया, बल्कि इसे अपने फ़तवों के ज़रिए और अधिक क्रूर तथा जातिवादी बना दिया। बरेलवी संप्रदाय के संस्थापक मौलाना अहमद रज़ा ख़ान बरेलवी ने अपनी पुस्तक 'फ़तावा-ए-रज़विया' और 'अल-मलफ़ूज़' में स्पष्ट लिखा कि यदि कोई सैयद व्यक्ति कोई अपराध भी करे, तब भी क़ाज़ी (धार्मिक न्यायाधीश) उसे सज़ा देते समय दंड की नीयत नहीं रखेगा, बल्कि यह सोचेगा कि वह 'शहज़ादे के पैर में लगी कीचड़ साफ कर रहा है' [19]। उन्होंने यह फ़तवा दिया कि सैयद, शेख़, मुग़ल और पठान ही 'अशराफ़' (कुलीन) हैं, जबकि जुलाहा (अंसारी), धुनिया (मंसूरी), नाई (सलमानी), कसाई (क़ुरैशी) और धोबी जैसी स्थानीय धर्मांतरित जातियाँ 'रज़ील' (नीच) हैं; अतः किसी पसमांदा मर्द का निकाह अशराफ़ या सैयद महिला से कतई नहीं हो सकता।

इसी प्रकार, दारुल उलूम देवबन्द के संस्थापक मौलाना मुहम्मद क़ासिम नानौतवी ने देवबन्द मदरसे की स्थापना की रिपोर्ट (रूदाद-ए-दारुल उलूम देवबन्द, 1290 हिजरी) में लिखा कि अल्लाह ने धार्मिक ज्ञान की ज़िम्मेदारी केवल चार अशराफ़ जातियों (सैयद, शेख़, मुग़ल, पठान) को सौंपी है और उन्हें यह इल्म (ज्ञान) अपनी जीविका के लिए हासिल करना चाहिए [20]। इतिहासकार बारबरा मेटकाफ़ (Barbara Metcalf) अपनी पुस्तक 'इस्लामिक रिवाइवल इन ब्रिटिश इंडिया: देवबन्द' में लिखती हैं कि देवबन्द की पूरी विचारधारा मूलतः अशराफ़ वर्ग के हितों की संरक्षिका थी [21]। देवबन्द के मुफ़्ती अज़ीज़ुर्रहमान उस्मानी [22], मुफ़्ती मुहम्मद शफ़ी (जिन्होंने 'निहायातुल अरब फ़ी ग़ायतिन्नसब' लिखकर पसमांदा जातियों को अपमानित किया) [23], और मौलाना अशरफ़ अली थानवी (जिन्होंने 'बहिश्ती ज़ेवर' और 'इमदादुल फ़तावा' में जातिगत श्रेष्ठता को धर्म का कानून बताया) [24] ने दर्जनों फ़तवे देकर यह व्यवस्था पक्की कर दी कि धर्म-परिवर्तन के बाद भी पसमांदा मुस्लिम कभी अशराफ़ों के बराबर नहीं हो सकते।

तबलीगी जमात के प्रमुख मौलाना मुहम्मद ज़करिया कांधलवी ने अपनी पुस्तक 'फ़ज़ाइल-ए-आमाल' में क़ाफ़िले का अमीर (नेता) केवल अशराफ़ को बनाने की वकालत की और बाद में तेली जाति से आने वाले मौलाना रहमतुल्लाह मीरठी को पद से हटाकर कांधला के अशराफ़ परिवार के मौलाना इनामुल हसन को अमीर बनवाने के लिए अपने ख़्वाब (सपने) का सहारा लिया [25]। सैयदवाद वास्तव में धर्म की मूल आत्मा पर एक गहरा आघात है, जिसे अब्बासी दौर और बाद के मुस्लिम शासकों ने अपनी सत्ता को स्थायित्व देने के लिए एक राजनीतिक हथियार के रूप में इस्तेमाल किया। 'आल-ए-मुहम्मद' के व्यापक और कल्याणकारी अर्थ को सीमित करके सम्मानित पसमांदा समुदाय के मस्तिष्क में यह झूठा विश्वास बैठा दिया गया कि एक ख़ास कुल जन्म से ही शासक और सर्वश्रेष्ठ है। इस भ्रामक धारणा ने श्रमजीवी और स्वाभिमानी पसमांदा मुसलमानों को सामाजिक पिछड़ेपन के दलदल में धकेल दिया। आज यह समझना अनिवार्य है कि ईश्वर के दरबार में पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) का यह ऐतिहासिक सिद्धांत ही सर्वोच्च और प्रामाणिक है कि: "कुल्लुकुम मिन आदमा व आदमू मिन तुराब" अर्थात् 'तुम सब आदम की संतान हो और आदम मिट्टी से बनाए गए थे।'

उपरोक्त समग्र ऐतिहासिक और धर्मशास्त्रीय साक्ष्यों से यह अकादमिक निष्कर्ष पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है कि मुस्लिम समाज में 'सैयदवाद' की उत्पत्ति मूलतः खिलाफत की राजनीतिक जंग में शिया संप्रदाय द्वारा गढ़े गए प्रचार और वंशीय दावों से हुई थी। बाद में अब्बासी साम्राज्य ने अपनी सत्ता को दीर्घायु बनाने के लिए इस अहले-बैत केंद्रित विमर्श को आधिकारिक मजहबी रूप दे दिया। अंततः, भारतीय उपमहाद्वीप में बरेलवी और देवबंदी उलेमाओं ने अपने सामाजिक विशेषाधिकारों की रक्षा के लिए इस व्यवस्था को फ़तवों, मदरसों और साहित्य के माध्यम से इतना गहरा कर दिया कि 85 प्रतिशत पसमांदा मुसलमान इस्लाम के मूल समतावादी संदेश के बावजूद इस अघोषित 'सैयदवाद' की स्थायी धार्मिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक गुलामी में जकड़ दिए गए।

सैयदवाद का वैधानिक आधार: कुफ़ू का सिद्धांत, रक्त-शुद्धता की अनिवार्यता और इस्लामी न्यायशास्त्र (फ़िक़्ह) का संस्थागत ढाँचा:

भारतीय उपमहाद्वीप के मुस्लिम समाज में गहराई से व्याप्त जातिगत पदानुक्रम, जन्म-आधारित ऊँच-नीच और अशराफ़ (कथित उच्च, विदेशी या कुलीन मूल का मुस्लिम वर्ग) के सामाजिक-धार्मिक आधिपत्य को बनाए रखने में सबसे बड़ी भूमिका इस्लामी विधिशास्त्र

(फ़िक़्ह यानी मजहबी कानून) के अंतर्गत विकसित किए गए 'कुफ़ू' (विवाह में वंशीय व सामाजिक बराबरी) के सिद्धांत ने निभाई है। डॉ. भीमराव आंबेडकर ने भारतीय जाति व्यवस्था का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करते हुए यह अकादमिक सिद्धांत स्थापित किया था कि सगोत्रीय विवाह (Endogamy अर्थात् अपनी ही जाति या बिरादरी के भीतर विवाह करने की कठोर अनिवार्यता) ही जाति व्यवस्था का मूल आधार और उसकी जीवनरेखा है [26]। डॉ. आंबेडकर के अनुसार, जैसे-जैसे शीर्षस्थ वर्ग (ब्राह्मण) अपने सामाजिक दायरे को भीतर की ओर बंद करते गए और उन्होंने अपने समुदाय से बाहर वैवाहिक संबंध बनाना पूरी तरह निषिद्ध कर दिया, वैसे-वैसे संपूर्ण समाज 'बंद वर्गों' (Closed Classes) में तब्दील होता चला गया।

मुस्लिम समाज के संदर्भ में जब हम 'कुफ़ू' के सिद्धांत का वस्तुनिष्ठ अध्ययन करते हैं, तो यह ठीक उसी सगोत्रीय विवाह और रक्त-शुद्धता की रक्षा करने वाली व्यवस्था के रूप में दिखाई देता है, जिसके ज़रिए अशराफ़ और विशेष रूप से सैयद वर्ग ने अपने वंशीय विशेषाधिकारों, सत्ता और सामाजिक प्रतिष्ठा को धर्म की आड़ में सुरक्षित रखा है। 'कुफ़ू' (Kafa'ah) अरबी भाषा का शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ समानता, समरूपता, मेल या बराबरी होता है। इस्लामी न्यायशास्त्र (फ़िक़्ह) में विवाह के संदर्भ में इसका व्यावहारिक अर्थ यह तय करना है कि वर और वधू सामाजिक, आर्थिक, वंशीय और पारिवारिक दृष्टि से एक-दूसरे के समकक्ष हैं या नहीं। जब उलेमा (इस्लामी विद्वान) यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति अमुक का 'कुफ़ू' है, तो इसका अर्थ होता है कि दोनों का सामाजिक दर्जा बराबर है और उनके बीच निकाह (विवाह) वैध हो सकता है।

सैद्धांतिक रूप से इस्लाम के मूल धर्मशास्त्र में पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) का स्पष्ट आदेश था कि विवाह के समय केवल 'तक़वा' (धर्मपरायणता और नैतिक सदाचार) को प्राथमिकता दी जानी चाहिए और इस्लाम में किसी प्रकार का नस्लीय या वंशीय अहंकार वर्जित है। किंतु ऐतिहासिक रूप से जब इस्लामी साम्राज्य का विस्तार हुआ और विभिन्न क्षेत्र व नस्लें इस्लाम के दायरे में आईं, तो मुस्लिम विधिवेत्ताओं (फ़ुक़हा) ने शासक वर्ग और अरब अभिजात वर्ग के वर्चस्व को सुरक्षित रखने के लिए कुफ़ू के व्यावहारिक सुझाव को एक कठोर कानूनी, वंशीय और नस्लीय प्रतिबंध में बदल दिया।

इस्लाम के चारों प्रमुख सुन्नी विधिक संप्रदायों (मसलकों) हनफ़ी, शाफ़ई, हंबली और मालिकी तथा शिया न्यायशास्त्र (फ़िक़्ह-ए-जाफ़री) में कुफ़ू के अलग-अलग नियम निर्धारित किए गए, किंतु लगभग सभी ने 'नसब' (वंश, नस्ल और कुल) को सामाजिक श्रेष्ठता का सबसे निर्णायक आधार स्वीकार किया। दक्षिण एशिया और मध्य एशिया में सबसे अधिक प्रचलित 'हनफ़ी मसलक' (जिसकी स्थापना इमाम अबू हनीफ़ा ने की थी) के अनुसार, विवाह में बराबरी तय करने के लिए छह बुनियादी तत्वों को देखा जाता है, जिनमें वंश (नसब) शीर्ष पर है।

हनफ़ी विधिशास्त्र के मानक ग्रंथ 'अल-हिदाया' (लेखक: बुरहानुद्दीन अल-मरग़ीनानी) और 'रद्दुल मुहतार' (लेखक: इब्ने आबिदीन शामी) के आधार पर जो नियम बनाए गए, उनके अनुसार:

- **1.** एक अरबी नस्ल का व्यक्ति गैर-अरबी (अजमी) से स्वाभाविक रूप से श्रेष्ठ है;
- **2.** अरबों में पैगंबर साहब का कबीला 'कुरैश' सबसे सर्वोच्च है और अन्य सभी अरब कबीलों से श्रेष्ठ है;
- **3.** गैर-अरबों में कोई मर्द जन्म से किसी पुराने खानदानी मुसलमान के बराबर तभी माना जाएगा जब उसके पिता और दादा दोनों मुस्लिम रहे हों और वह उचित मेहर (विवाह के समय दिया जाने वाला अनिवार्य धन) देने में सक्षम हो; और
- **4.** पेशे के आधार पर काज़ी (धार्मिक न्यायाधीश) या आलिम सौदागर से ऊँचा होगा और सौदागर दस्तकार (श्रमजीवी बुनकर, नाई, धोबी आदि) से श्रेष्ठ माना जाएगा।

याद रहे ये किताबें भारत में नहीं लिखी गई हैं। इसी प्रकार 'शाफ़ई मसलक' (इमाम शाफ़ई द्वारा स्थापित) ने भी नस्लीय कुलीनता को विवाह के लिए अनिवार्य माना और इमाम नववी की पुस्तक 'किताबुल मजमूअ शरहुल मुहज़्ज़ब' में यह व्यवस्था दी गई कि कोई गैर-अरब व्यक्ति कुरैशी या हाशिमी महिला का कुफ़ू (बराबरी का) नहीं हो सकता। 'हंबली मसलक' (इमाम अहमद इब्न हंबल द्वारा स्थापित, जो वर्तमान सऊदी अरब और वहाबी/सलाफ़ी विचारधारा का आधार है) ने भी कबीलाई और वंशीय श्रेष्ठता को कानूनी मान्यता दी। केवल 'मालिकी मसलक' में (जो पश्चिम और उत्तर अफ़्रीका में प्रचलित रहा) अश्वेत और अफ़्रीकी मुसलमानों की बहुसंख्या होने के कारण धर्मपरायणता को नस्ल से ऊपर माना गया, किंतु शेष पूरे इस्लामी जगत में हनफ़ी और शाफ़ई फ़िक़्ह के ज़रिए जन्म-आधारित श्रेष्ठता को ही शरीयत का कानून बना दिया गया।

डॉ. आंबेडकर के सामाजिक अनुकरण (इमिटेशन) के सिद्धांत के अनुसार, जाति व्यवस्था समाज पर केवल ऊपर से थोपी नहीं गई,

बल्कि यह तब व्यापक हुई जब समाज के अन्य अधीनस्थ समूहों ने भी प्रतिष्ठा पाने की होड़ में सर्वोच्च वर्ग के रीति-रिवाजों और सगोत्रीय विवाह की नकल करना शुरू कर दिया। आंबेडकर ने रेखांकित किया था कि सामाजिक अनुकरण में हमेशा नीचे के वर्ग ऊपर वालों की नकल करते हैं और दो समूहों के बीच सामाजिक दूरी जितनी अधिक होगी, नकल करने की चेष्टा भी उतनी ही तीव्र होगी। मुस्लिम समाज में यही प्रक्रिया सैयदों के संदर्भ में घटी। सैयदों ने स्वयं को पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) का सीधा जैविक वंशज और जन्मजात पवित्र घोषित करके समाज के सर्वोच्च पायदान पर स्थापित किया। अपनी इस कथित रक्त-शुद्धता को अक्षुण्ण रखने के लिए उन्होंने अपनी बिरादरी के बाहर विवाह करने पर पूर्ण प्रतिबंध लगा दिया।

जब सैयदों ने इस 'बंद वर्ग' का निर्माण किया, तो उनकी देखा-देखी शेख़, मुग़ल और पठान जैसी अन्य अशराफ़ जातियों ने भी अपने दायरे बंद कर लिए। इसके परिणामस्वरूप, स्थानीय धर्मांतरित श्रमजीवी मुस्लिम जातियाँ (जैसे अंसारी/जुलाहा, मंसूरी/धुनिया, राईन/कुंजड़ा, सैफ़ी/लोहार-बढ़ई, सलमानी/नाई आदि) भी इस श्रेणीबद्ध ऊँच-नीच के जाल में उलझ गईं और पूरा मुस्लिम समाज एक ऐसे पदानुक्रम में बँट गया जहाँ हर जाति अपने से नीचे एक पायदान तलाशने लगी।

सैयदवाद की इस व्यवस्था में सबसे बड़ा धर्मशास्त्रीय अंतर्विरोध 'रक्त की शुद्धता' (नसब) को लेकर सामने आता है। क़ुरआन मजीद और हदीस का सर्वसम्मत नियम है कि मानवों में वंश पिता से चलता है, माता से नहीं (क़ुरआन मजीद 33:5, 33:40)। इस्लामी न्यायशास्त्र के अनुसार यदि किसी अरबी पुरुष का विवाह किसी दासी या गैर-अरबी महिला से हो, तो उत्पन्न संतान अरबी मानी जाएगी; किंतु यदि किसी गैर-अरबी पुरुष का विवाह किसी अरबी/सैयद महिला से हो, तो संतान गैर-अरबी मानी जाएगी। किंतु जब सैयदों की श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रश्न आया, तो उलेमाओं ने एक अजीबोगरीब दोहरा मापदंड अपनाते हुए यह दावा किया कि पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) की जैविक नस्ल केवल उनकी सुपुत्री हज़रत फ़ातिमा ज़हरा (सलामउल्लाहि अलैहा / रज़ियल्लाहु अन्हा) से चलती है।

प्रोफेसर मसऊद आलम फ़लाही अपनी पुस्तक 'हिंदुस्तान में ज़ात-पात और मुसलमान' में इस पाखंड को उजागर करते हुए लिखते हैं कि यदि पैगंबर साहब की बेटी से नस्ल चलना उनकी विशेष स्थिति थी, तो यह अधिकार केवल हज़रत फ़ातिमा (रज़ियल्लाहु अन्हा) तक ही सीमित क्यों रखा गया और पैगंबर साहब की अन्य तीन पुत्रियों (हज़रत ज़ैनब, हज़रत रुकय्या, उम्मे कुलसूम रज़ियल्लाहु अन्हा) से उनकी नस्ल क्यों नहीं मानी गई? इसके अतिरिक्त, हज़रत फ़ातिमा के पुत्रों (हज़रत हसन और हज़रत हुसैन रज़ियल्लाहु अन्हुमा) के बाद आने वाले प्रमुख इमामों—जैसे इमाम ज़ैनुल आबिदीन (अलैहिस्सलाम)—की माताएं गैर-अरबी दासियां (उम्मे वलद) थीं, फिर भी सैयदों ने स्वयं को 'शुद्ध अरबी रक्त' का बताकर अन्य मुसलमानों से सामाजिक दूरी बनाई रखी [27]। स्पष्ट है कि यह पूरी व्याख्या केवल उन राजनीतिक दावों को सही ठहराने के लिए गढ़ी गई थी, जो सत्ता और विशेषाधिकारों को केवल एक खास खानदान में सीमित रखना चाहते थे।

इस जातिवादी व्यवस्था को संस्थागत रूप देने और समाज में लागू करने का सबसे बड़ा औजार पारंपरिक मदरसे और उनमें पढ़ाई जाने वाली फ़िक़्ह की पुस्तकें बनीं। भारत की शीर्ष इस्लामिक संस्था 'ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड' द्वारा प्रकाशित आधिकारिक कानूनी संकलन 'मजमूए क़ानूने इस्लामी' (5वाँ संस्करण, 2011) इस बात का अकादमिक प्रमाण है कि यह सोच आज भी संस्थागत रूप से जीवित है। इस पुस्तक के पृष्ठ संख्या 101-105 और 237-241 पर 'कुफ़ू' के नियमों का उल्लेख करते हुए स्पष्ट लिखा गया है कि:

> *"एक अरब गैर-अरब से श्रेष्ठ है, अंसारी, दर्ज़ी, धोबी से सैयद-शेख़ श्रेष्ठ हैं, ख़ानदानी मुसलमान नए हुए मुसलमान से श्रेष्ठ हैं... बोर्ड स्वयं गैर-कुफ़ू (जो बराबर न हो) यानी एक अशराफ़ (शरीफ़/उच्च जाति) और एक पसमांदा (रज़ील/निम्न जाति) के बीच विवाह को न्यायसंगत नहीं मानता और इस प्रकार के विवाह को वर्जित क़रार देता है" [28]।*

इसका सीधा और अमानवीय कानूनी निष्कर्ष यह निकलता है कि यदि कोई वयस्क अशराफ़/सैयद महिला अपनी स्वतंत्र इच्छा से किसी पसमांदा या तथाकथित निचली जाति के पुरुष से विवाह कर ले, तो यह संस्थागत फ़िक़्ह ऐसे निकाह को सिरे से अवैध (बातिल) मानती है और उससे उत्पन्न होने वाली संतान को भी धर्मशास्त्र की दृष्टि में नाजायज़ ठहराती है।

बरेलवी मसलक (संप्रदाय) के प्रमुख विद्वानों के फ़तवे इस नस्लीय वंशीय आग्रह को और अधिक नग्न रूप में प्रस्तुत करते हैं। प्रतिष्ठित मौलाना हशमत अली ख़ान (1902–1960 ई.) अपनी पुस्तक 'ख़ूने मसावात' में लिखते हैं:

"जुलाहा बिरादरी का कोई व्यक्ति चाहे वह आलिम (विद्वान), दयालु, सज्जन और धनवान ही क्यों न हो, उसे सैय्यद की बेटी से निकाह करने का अधिकार नहीं है। यदि उस बिरादरी का कोई व्यक्ति ऐसा विवाह करता है, तो उस निकाह को विच्छेद कर (तोड़) देना चाहिए, अन्यथा इस दंपती से उत्पन्न होने वाली संतान अवैध मानी जाएगी" [29]।

इसी प्रकार, बरेलवी मसलक के संस्थापक आला हज़रत मौलाना अहमद रज़ा ख़ान बरेलवी (1856–1921 ई.) ने अपने फ़तवों के विशाल संग्रह 'फ़तावा-ए-रज़विया' में कुफ़ू के आधार पर जन्मजात ऊँच-नीच की पूरी व्यवस्था खड़ी की। जब उनसे पूछा गया कि क्या सैयद की बेटी का विवाह किसी धर्मांतरित भंगी या सामान्य मुसलमान से हो सकता है, तो उन्होंने कठोर शब्दों में उत्तर दिया कि ऐसा विचार रखने वाला व्यक्ति 'गुस्ताख़ और झूठा' है।

मौलाना अहमद रज़ा ख़ान बरेलवी 'फ़तावा-ए-रज़विया' (जिल्द 11, मसला 441) में लिखते हैं:

"सादात-ए-किराम (सैयदों) की बेटियाँ किसी मुग़ल, पठान या ग़ैर-कुरैशी शेख़ जैसे मदीना के अंसारियों को भी नहीं पहुँचतीं, जब तक कि वह दीन का बहुत बड़ा आलिम न हो। यद्यपि ये जातियाँ शरीफ़ गिनी जाती हैं, लेकिन सैयदों की श्रेष्ठता सबसे ऊपर है और गैर-कुरैश, कुरैश का कुफ़ू नहीं हो सकता। ऐसे में रज़ील (निम्न) जातियों वाले—अल्लाह की पनाह—कैसे सैयदों के कुफ़ू हो सकते हैं? यहाँ तक कि यदि कोई बालिग सैयद लड़की स्वयं अपनी खुशी और इच्छा से किसी गैर-आलिम मुग़ल, पठान या अंसारी से विवाह करेगी, तो वह निकाह सिरे से होगा ही नहीं" [30]।

उन्होंने यह भी फ़तवा दिया कि यदि कोई अशराफ़ महिला अपने अभिभावकों (वली) की स्पष्ट अनुमति के बिना किसी निचली जाति के पुरुष से विवाह कर ले, तो वह निकाह स्वतः रद्द माना जाएगा। मौलाना अहमद रज़ा ख़ान बरेलवी ने केवल वैवाहिक संबंधों तक ही इस भेदभाव को सीमित नहीं रखा, बल्कि धार्मिक नेतृत्व और नमाज़ की इमामत (सामूहिक प्रार्थना के नेतृत्व) के क्षेत्र में भी नस्लीय श्रेष्ठता को अनिवार्य शर्त बना दिया। 'फ़तावा-ए-रज़विया' (भाग 6, पृष्ठ 501 एवं 604) में जब उनसे सवाल किया गया कि यदि दो आलिम मौजूद हों एक 'रज़ील' (पसमांदा) जाति का और दूसरा 'शरीफ़' (अशराफ़) जाति कातो इमामत के लिए किसे प्राथमिकता दी जाएगी, तो मौलाना ने फ़तवा दिया:

"जब इन सब बातों (ज्ञान और आचरण) में दोनों बराबर हों, तो अब नस्ल की शराफ़त से वरीयता दी जाएगी। हाँ, यदि रज़ील इस स्तर का है कि उसकी इमामत से साधारण लोग नफ़रत करते हैं और जमाअत में रुकावट पड़ती है, तो उसकी इमामत नहीं होनी चाहिए" [30]।

बरेलवी मसलक के एक अन्य प्रमुख विद्वान मुफ़्ती जलालुद्दीन अहमद अमजदी अपनी पुस्तक 'ख़ुतबात-ए-मुहर्रम' में लिखते हैं कि सैयदों के आदर का तकाज़ा यह है कि कोई गैर-सैयद उनसे ऊँचे स्थान पर न बैठे, उनकी छोड़ी हुई विधवा से विवाह न करे और गैर-सैयद स्वयं को सैयदों का दास समझे [31]। इसके अतिरिक्त, बरेलवी आलिम मौलाना अमजद अली आज़मी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'बहार-ए-शरीअत' (भाग 7) में लिखा कि अजमी (गैर-अरबी) नस्ल का व्यक्ति अरबी नस्ल का कुफ़ू नहीं हो सकता और निचली जातियों का पेशा उनकी सामाजिक हीनता का स्थायी प्रमाण है [32]।

दूसरी ओर, दारुल उलूम देवबंद के प्रमुख उलेमाओं ने भी कुफ़ू और नस्लीय पदानुक्रम के मामले में ठीक इसी प्रकार के कठोर फ़तवे जारी किए। देवबंद के प्रमुख विचारक मौलाना अशरफ़ अली थानवी (1863–1943 ई.) अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'बहिश्ती ज़ेवर'—जो भारतीय उपमहाद्वीप में पारंपरिक मुस्लिम परिवारों में लड़कियों को घरेलू व धार्मिक आचार सिखाने हेतु दी जाती है—के निकाह अध्याय में लिखते हैं:

"नसब (वंश) में बराबरी यह है कि शेख़, सैयद, अंसारी (मदीना के अंसार) और अलवी आपस में एक-दूसरे के बराबर हैं। मुग़ल और पठान आपस में एक जाति हैं और वे शेख़-सैयद के टक्कर के नहीं हैं... पेशे में बराबरी यह है कि जुलाहे (बुनकर) और दर्ज़ी आपस में बराबर नहीं हैं; इसी तरह नाई और धोबी भी दर्ज़ी के बराबर नहीं हैं" [33]।

मौलाना थानवी ने अपनी पुस्तक 'इमदादुल फ़तावा' (जिल्द 2, पृष्ठ 368-369) में यहाँ तक तर्क दिया कि 'शरीफ़' जातियों का तथाकथित 'रज़ील' जातियों के साथ विवाह संबंध बनाने में अपमान महसूस करना शरीयत के अनुसार पूरी तरह वैध है। जब एक पसमांदा व्यक्ति ने समानता के इस्लामी उसूलों का हवाला देते हुए इस पर आपत्ति जताई,

तो थानवी ने जवाब दिया कि यदि एक हिंदू राजपूत मुसलमान बनकर यह देखेगा कि उसकी बराबरी एक नए मुस्लिम भंगी या चमार से की जा रही है, तो वह कभी इस्लाम में नहीं आएगा; अतः सामाजिक ऊँच-नीच को बनाए रखना ही सभ्यता और धर्म के हित में है [33]।

दारूल उलूम देवबंद के पहले मुफ़्ती अज़ीज़ुर्रहमान उस्मानी ने 'फ़तावा दारूल उलूम देवबंद' (जिल्द 8) में दर्जनों फ़तवे देकर यह स्थापित किया कि यदि किसी बालिग अशराफ़ या सैयद महिला का विवाह उसके अभिभावकों की अनुमति के बिना किसी पसमांदा (जैसे नाई, जुलाहा, कसाई) से हो जाए, तो वह निकाह स्वतः अवैध और व्यभिचार के तुल्य माना जाएगा [34]। दारूल उलूम देवबंद के पूर्व मुख्य मुफ़्ती मुहम्मद शफ़ी उस्मानी ने वर्ष 1932 में 'निहायातुल अरब फ़ी ग़ायतिन्नसब' नामक पुस्तक लिखकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि प्रलय (क़ियामत) के दिन अशराफ़ जातियों के सभी गुनाह उनकी नस्लीय श्रेष्ठता के कारण क्षमा कर दिए जाएंगे और पसमांदा दस्तकार जातियों को अपमानित करने वाली अनेक मनगढ़ंत हदीसें दर्ज कीं [35]। देवबंद के पूर्व कुलपति (मोहतमिम) मौलाना क़ारी मुहम्मद तय्यब ने अपनी पुस्तक 'नसब और इस्लाम' (1962) में क़ुरआन मजीद की समतावादी आयतों (49:13) की तोड़-मरोड़ कर व्याख्या करते हुए लिखा कि जातियों और कबीलों का विभाजन केवल पहचान के लिए नहीं, बल्कि उनकी जन्मजात श्रेष्ठता और ऊँच-नीच को बनाए रखने के लिए हुआ है [36]।

शिया संप्रदाय के विधिशास्त्र में भी कुफ़ू का यह सिद्धांत अत्यंत चरम रूप में दिखाई देता है। शिया न्यायशास्त्र की मानक पुस्तकों—जैसे शेख़ अल-सदूक़ की 'किताबु मँय ला यहज़ुरुहुल फ़क़ीह' (जिल्द 3) और अल-कुलेनी की 'अल-काफ़ी' (जिल्द 5)—में दर्ज नियमों के आधार पर यह स्थापित किया गया कि एक सामान्य मोमिन (शिया मुस्लिम) किसी सैयद महिला का कुफ़ू नहीं हो सकता [37, 38]। समकालीन शिया धर्मगुरु आयतुल्लाह मज़हर शीराज़ी ने अपने भाषणों में स्पष्ट घोषणा की कि यदि किसी सैयदज़ादी का विवाह गैर-सैयद से होने की परिस्थिति बने, तो उसके पिता को अपनी बेटी की मृत्यु की प्रार्थना कर लेनी चाहिए, किंतु गैर-सैयद से विवाह स्वीकार नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार 'कुफ़ू' के इस सिद्धांत ने मुस्लिम समाज के भीतर एक अत्यंत जटिल 'परतबद्ध असमानता' (Graded Inequality) की व्यवस्था को जन्म दिया। डॉ. भीमराव आंबेडकर ने इस परतबद्ध असमानता के समाजशास्त्र को समझाते हुए लिखा था कि ऐसी व्यवस्था में शोषित वर्ग कभी एक समान धरातल पर एकजुट नहीं हो पाते। इस व्यवस्था में:

1. सर्वोच्च (सैयद) के नीचे उच्च (शेख़);

2. उच्च के नीचे मध्यम (मुग़ल-पठान / वैश्य के समानांतर);

3. मध्यम के नीचे निम्न (अंसारी-मंसूरी / शूद्र के समानांतर); और

4. निम्न के नीचे निम्नतम (हलालख़ोर/लालबेगी / अति-शूद्र के समानांतर) वर्ग होते हैं।

सर्वोच्च वर्ग के विशेषाधिकारों के विरुद्ध नीचे के सभी वर्गों को शिकायत तो होती है, लेकिन वे कभी मिलकर सामूहिक क्रांति नहीं कर पाते; क्योंकि जो उच्च है वह सर्वोच्च से मुक्ति चाहता है, परंतु वह अपने से नीचे वाले के साथ हाथ मिलाने से डरता है कि कहीं वह उसके बराबर न आ जाए। ठीक इसी तरह जो निम्न है, वह अपने से नीचे वाले निम्नतम को दबाकर संतुष्ट रहता है। चूँकि सबसे निचली पायदान को छोड़कर हर वर्ग के पास अपने से नीचे वाले पर शासन करने का कुछ न कुछ सापेक्ष अधिकार होता है, इसलिए पूरा समाज उस अन्यायपूर्ण व्यवस्था को भीतर से बनाए रखने में हिस्सेदार बन जाता है।

उपरोक्त समग्र अकादमिक, ऐतिहासिक और धर्मशास्त्रीय विश्लेषण से यह निष्कर्ष पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है कि 'सैयदवाद' केवल एक व्यक्तिगत अहंकार नहीं, बल्कि एक व्यवस्थित संस्थागत संरचना है, जिसे जिंदा रखने के लिए 'रक्त-शुद्धता' की रक्षा करना अनिवार्य शर्त है। यदि अंतर-जातीय विवाहों को स्वतंत्र रूप से होने दिया जाता, तो सैयदों का अलौकिक वंशीय विशेषाधिकार और अशराफ़ों का सामाजिक-आर्थिक एकाधिकार कुछ ही पीढ़ियों में समाप्त हो जाता। इसी एकाधिकार को बचाए रखने के लिए मध्ययुगीन फ़िक़्ह के ज़रिए 'कुफ़ू' का ताना-बाना बुना गया और आधुनिक मदरसों, मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड तथा बरेलवी, देवबंदी और शिया मसलकों के उलेमाओं ने फ़तवों के माध्यम से इसे मजहबी कानून का अटूट हिस्सा बनाए रखा। इसके परिणामस्वरूप, इस्लाम के मूल समतावादी संदेश के बावजूद, 85 प्रतिशत पसमांदा मुसलमान सदियों से वैवाहिक, सामाजिक और धार्मिक पदानुक्रम के निचले पायदान पर कैद होकर रह गए।

लेखक परिचय

अब्दुल्लाह मंसूर शिक्षक, लेखक और बुद्धिजीवी हैं। पसमांदा डेमोक्रेसी यूट्यूब चैनल के संचालक हैं और मुस्लिम समाज में जाति व सामाजिक न्याय से जुड़े पसमांदा दृष्टिकोण पर निरंतर लिखते-बोलते हैं।

संदर्भ सूची (References / Endnotes)

1. पवित्र कुरआन मजीद: सूरह अल-हुजुरात (अध्याय 49), आयत संख्या 13.

2. अहमद बिन हंबल: मुसनद अहमद बिन हंबल, हदीस संख्या: 23489 (पैगंबर हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम का अंतिम ऐतिहासिक उपदेश—ख़ुतबा हज्जतुल विदा).

3. ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड (2011): मजमूए क़ानूने इस्लामी, 5वाँ संस्करण, नई दिल्ली: ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड, पृष्ठ संख्या 101-105 एवं 237-241.

4. हमदानी, सैयद ज़व्वार हुसैन: तुहफ़तुल अवाम, 19वाँ बाब: 'बयान-ए-ख़ुम्स', पृष्ठ संख्या 204-208; 22वाँ बाब: 'अहकाम-ए-निकाह', पृष्ठ संख्या 259-264; 27वाँ बाब: 'माह-ए-मुहर्रम ओ शाबान', पृष्ठ संख्या 454-471, 492-495.

5. फ़लाही, मसऊद आलम (2020): हिंदुस्तान में ज़ात-पात और मुसलमान, तीसरा संस्करण, नई दिल्ली: अल-क़ाज़ी पब्लिकेशन्स, पृष्ठ संख्या 380-381.

6. अहमद, इम्तियाज़ (2003): भारत के मुसलमानों में जातीव्यवस्था और सामाजिक स्तरीकरण, प्रथम हिंदी संस्करण, नई दिल्ली: ग्रंथ शिल्पी, पृष्ठ संख्या 37-38.

7. इंजीनियर, असग़र अली (2018): इस्लाम का जन्म और विकास, तीसरा संस्करण, नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 127, 158-160.

8. फ़लाही, मसऊद आलम (2020): वही (Ibid.), पृष्ठ संख्या 359-363, 461-473, 483-484.

9. Crone, Patricia (2004): God's Rule – Government and Islam: Six Centuries of Medieval Islamic Political Thought, New York: Columbia University Press, pp. 14-22.

10. Hawting, G. R. (2000): The First Dynasty of Islam: The Umayyad Caliphate AD 661–750, Second Edition, London: Routledge, pp. 45-60.

11. ख़लदून, इब्न: द मुक़द्दिमा: ऐन इंट्रोडक्शन टू हिस्ट्री (अनुवादक: फ्रांज़ रोसेन्थल), प्रिंसटन: प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस.

12. Sharon, Moshe (1983): Black Banners from the East: The Establishment of the ʿAbbāsid State, Jerusalem: The Magnes Press, pp. 78-102.

13. Elad, Amikam (2016): The Rebellion of Muḥammad Al-Nafs Al-Zakiyya in 145/762: Ṭālibīs and Early ʿAbbāsīs in Conflict, Leiden: Brill, pp. 115-140.

14. नदवी, शाह मुईनुद्दीन अहमद: तारीख़-ए-इस्लाम, आज़मगढ़: दारुल मुसन्निफ़ीन, भाग: ख़िलाफत-ए-अब्बासिया (हिस्सा 1), शीर्षक: 'नफ़्स-ए-ज़किया का ख़त व जवाब', पृष्ठ संख्या 35-36.

15. अब्बासी, महमूद अहमद (1961): तहक़ीक़-ए-सैयद ओ सादात, कराची: अल-रहमान पब्लिशिंग ट्रस्ट, पृष्ठ संख्या 141, 144, 161-162, 185-191, 233-239, 280-283, 304-330.

16. हमदानी, सैयद ज़व्वार हुसैन: तुहफ़तुल अवाम, पूर्वोद्धृत (Ibid.), पृष्ठ संख्या 204-208, 259-264.

17. अल-सदूक़, अबू जाफ़र मुहम्मद इब्न अली (इब्न बाबवैह): किताबु मँय ला यहज़ुरुहुल फ़क़ीह, जिल्द 3, बाबुल अकफ़ा, हदीस संख्या 4380-4385, पृष्ठ संख्या 241, 257-258.

18. अल-कुलेनी, अबू जाफ़र मुहम्मद इब्न याकूब: अल-फ़ुरूह मिनल काफ़ी, तेहरान: दारुल कुतुब अल-इस्लामिया, जिल्द 5, किताबुन निकाह, हदीस संख्या 5, पृष्ठ संख्या 345.

19. ख़ान, अहमद रज़ा (1995): अल-मलफ़ूज़, बरेली शरीफ़: क़ादरी किताब घर, जिल्द 1, पृष्ठ 89-104; जिल्द 3, पृष्ठ संख्या 55-56; एवं फ़तावा-ए-रज़विया (1994), लाहौर: रज़ा फाउंडेशन, जिल्द 11, बाबुल कुफ़ू, मसला संख्या 438, 441, 442, 446, पृष्ठ संख्या 713-733.

20. नानौतवी, मुहम्मद क़ासिम (1873): कैफ़ियत-ए-हश्तगाना सालाना मदरसा अरबी देवबन्द (रुदाद), देवबन्द: क़ासमी प्रेस, पृष्ठ संख्या 9.

21. Metcalf, Barbara Daly (2002): Islamic Revival in British India: Deoband, 1860–1900, New Delhi: Oxford University Press, pp. 239, 245-258.

22. उस्मानी, मुफ़्ती अज़ीज़ुर्रहमान (1972): फ़तावा दारुल उलूम देवबन्द, देवबन्द: दारुल उलूम पब्लिकेशन, जिल्द 8, किताबुन निकाह, सवालात संख्या 1142, 1143, 1150, 1153, 1160, 1161, पृष्ठ संख्या 206-238.

23. शफ़ी, मुफ़्ती मुहम्मद (1932): निहायातुल अरब फ़ी ग़ायतिन्नसब मअ ज़मीमा वस्लुस्सबब, देवबन्द: दारुल इशाअत, पृष्ठ संख्या 3-19, 22-27.

24. थानवी, अशरफ़ अली: बहिश्ती ज़ेवर (जिल्द 1, बाबुल निकाह, पृ. 10-11); इमदादुल फ़तावा (जिल्द 2, पृ. 363-369); बवादिरुन नवादिर (जिल्द 2, पृ. 819-820).

25. कांधलवी, मुहम्मद ज़करिया: फ़ज़ाइल-ए-आमाल (फ़ज़ाइल-ए-कुरआन पृ. 34, फ़ज़ाइल-ए-हज पृ. 64), नई दिल्ली: इदारा इशाअत-ए-दीनियात.

26. जाफ़्रलो, क्रिस्टोफ़ (2022): भीमराव आंबेडकर: एक जीवनी, पाँचवाँ संस्करण, नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 47, 48, 51-52.

27. फ़लाही, मसऊद आलम (2020): पूर्वोद्धृत (Ibid.), पृष्ठ संख्या 370-371, 461-470, 483-484, 532-533.

28. ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड (2011): पूर्वोद्धृत (Ibid.), पृष्ठ संख्या 101-105, 237-241.

29. हुसैन, हाफ़िज़ तबारक एवं मुहम्मद, हाफ़िज़ दीन (1940): ख़ूने मसावात, बेतिया, पृष्ठ संख्या 7; उद्धृत: अनवर, अली (2001), मसावात की जंग, नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 128.

30. ख़ान, अहमद रज़ा बरेलवी (1994): फ़तावा-ए-रज़विया, पूर्वोद्धृत (Ibid.), जिल्द 11, बाबुल कुफ़ू, मसला संख्या 438, 440, 441, 442, 443, 446, 453, पृष्ठ संख्या 713-733; एवं भाग 6, बाबुल इमामत, पृष्ठ संख्या 501, 604.

31. अमजदी, मुफ़्ती जलालुद्दीन अहमद (1988): ख़ुतबात-ए-मुहर्रम, बस्ती: कुतुबख़ाना अमजदिया, पृष्ठ संख्या 239-240.

32. आज़मी, अमजद अली (1939): बहार-ए-शरीअत, कानपुर: कुतुबख़ाना अहले सुन्नत, जिल्द 1, हिस्सा 7 (बाबुल कुफ़ू), पृष्ठ संख्या 45-47.

33. थानवी, अशरफ़ अली: बहिश्ती ज़ेवर, नई दिल्ली: ताज कंपनी, निकाह का बयान, जिल्द 1, पृष्ठ संख्या 10-11; इमदादुल फ़तावा, देवबंद: मकतबा दारुल उलूम, जिल्द 2, पृष्ठ संख्या 363-369; एवं बवादिरुन नवादिर, जिल्द 2, पृष्ठ संख्या 819-820.

34. उस्मानी, मुफ़्ती अज़ीज़ुर्रहमान (1972): फ़तावा दारुल उलूम देवबंद, पूर्वोद्धृत (Ibid.), जिल्द 8, किताबुन निकाह, सवालात संख्या 1142, 1150, 1153, 1160, 1161, पृष्ठ संख्या 206-238.

35. शफ़ी, मुफ़्ती मुहम्मद (1932): निहायातुल अरब फ़ी ग़ायतिन्नसब मअ ज़मीमा वस्लुस्सबब, पूर्वोद्धृत (Ibid.), पृष्ठ संख्या 3-19, 22-27.

36. तय्यब, क़ारी मुहम्मद (1962): नसब और इस्लाम, देवबंद: इदारा ताजुल मआरिफ़, पृष्ठ संख्या 100-158.

37. अल-सदूक़, अबू जाफ़र मुहम्मद इब्न अली (इब्न बाबवैह): किताबु मँय ला यहज़ुरुहुल फ़क़ीह, पूर्वोद्धृत (Ibid.), जिल्द 3, बाबुल अकफ़ा, हदीस संख्या 4380-4385, पृष्ठ संख्या 241, 257-258.

38. अल-कुलेनी, अबू जाफ़र मुहम्मद इब्न याकूब: अल-फ़ुरुह मिनल काफ़ी, पूर्वोद्धृत (Ibid.), जिल्द 5, किताबुन निकाह, हदीस संख्या 5, पृष्ठ संख्या 345.

39. अली, मुबारक़: इतिहास का मतांतर, पृष्ठ संख्या 50-51.